आमों का बाग़

(श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के मैथिली उपन्यास 'आमक गाछी' का हिंदी अनुवाद)

आमक गाछी

मैथिली उपन्यास

जगदीश प्रसाद मण्डल

आमों का बाग़

हिंदी अनुवाद

पल्लवी मण्डल

आमों का बाग़

(धीमी ज़िंदगी का एक उत्तर-आधुनिक आख्यान)

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

पल्लवी मण्डल

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

AAMON KA BAAG, Aamon Ka Baag, the Hindi translation of Shri Jagdish Prasad Mandal's Maithili novel Aamak Gachhee, engages closely with postmodern concerns rooted in the social world of rural Mithila. The novel resists definitive conclusions and singular moral positions, allowing meaning to emerge through everyday experience, ethical ambiguity, and the slow, lived rhythms of village life. Rather than advancing a grand narrative, it presents reality as fragmented, evolving, and open to interpretation, thereby placing interpretive responsibility on the reader.

A key contemporary strand of the narrative is its treatment of live-in relationships, explored with restraint and moral sensitivity. The novel neither celebrates nor condemns this form of intimacy; instead, it situates such relationships within broader frameworks of family, community, and social expectation. Through silence, hesitation, and dialogue, it exposes the tension between personal choice and collective responsibility, revealing how modern relational forms intersect with enduring social structures.

Translated into Hindi by **Ms. Pallavi Mandal,** the novel preserves the cultural texture, emotional cadence, and narrative discipline of the original Maithili text. The measured, lucid prose allows realism and introspection to coexist, gradually revealing the fragile balance between hardship and hope. Within this postmodern framework, symbols such as the mango orchard acquire layered meanings of continuity and change, as well as patience and uncertainty, offering a quiet yet deeply reflective portrait of social transition.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District- Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-25-0
Price: 299/-
Copyright: © Publisher
Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typography: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
E-mail: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font source : https://fonts.google.com

All rights to this book are reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, or generated in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

समर्पण

धैर्य, श्रम और विवेक से गढ़े गए
उन शांत जीवनों को।
जिस जीवन में प्रेम, संबंध और उत्तरदायित्व
आसान निष्कर्ष में नहीं,
वरण निरंतर चयन और सहनशीलता में अर्थ पाते हैं।

अनुक्रमः

प्रस्तावना
आभार
आमों का बाग़

प्रस्तावना

उपन्यास साहित्य की वह विधा है जिसमें जीवन अपने व्यापक, बहुआयामी और गतिशील रूप में अभिव्यक्त होता है। यहां समय केवल एक दिशा में आगे बढ़ता हुआ नहीं दिखता, बल्कि वह अनुभवों की निरंतर धारा के रूप में प्रवाहित रहता है। व्यक्ति, परिवार और समाज की तमाम स्मृतियाँ परस्पर जुड़कर अंततः एक कथा का रूप ले लेती है। उपन्यास जीवन को किसी एक क्षण में सीमित करने के स्थान पर परिवर्तन, ठहराव, संघर्ष और आशा को साथ लेकर आगे बढ़ता है। इसी कारण वह पाठक से सहज संवाद स्थापित करता है और उसे अपने भीतर सहभागी बना लेता है।

भारतीय भाषाओं की साहित्यिक परंपरा में उपन्यास ने स्थानीय जीवनानुभवों को सुरक्षित रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। खेत, घर, श्रम और संबंधों से जुड़ी अनुभूतियाँ, जो कई बार चुपचाप सहन कर ली जाती हैं, औपचारिक इतिहास में प्रायः स्थान नहीं पातीं, किंतु उपन्यास उन्हें भाषा के माध्यम से स्थायित्व प्रदान करता है। क्षेत्रीय भाषाओं में रचे गए उपन्यास किसी भूभाग की सामाजिक संरचना, संवेदना और जीवन-लय को शब्दों में ढालते हैं। जब ऐसी रचनाएँ अन्य भाषाओं तक पहुँचती हैं, तब अनुभव का संसार और अधिक व्यापक हो जाता है।

साहित्य मनुष्य के जीवन से उत्पन्न होता है और उसी के आधार पर विकसित होता है। भाषा और साहित्य की संरचना जीवनानुभवों की नींव पर टिकी रहती है, जो उन्हें सुदृढ़ता प्रदान करती है। साहित्य जीवन को समझने और जीने की दृष्टि विकसित करता है। गद्य-साहित्य की विविध विधाओं में उपन्यास का स्थान विशिष्ट है, क्योंकि वह उस आधार को सामने लाता है जिस पर सामाजिक और मानवीय चेतना टिकी रहती है, भले ही वह आधार प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष।

जीवन प्रकृति की सृष्टि होने के कारण अनंत और अगम्य स्वरूप ग्रहण करता है, जबकि साहित्य मनुष्य की रचना होने के कारण सुबोध, सुगम और मर्यादित होता है। "हालाँकि मनुष्य इस संसार में जो कुछ भी महसूस करता है- चाहे वह सत्य हो या सुंदर- और जो कुछ देखता, समझता अथवा अनुभव करता है, वही साहित्य के रूप में अभिव्यक्त होता है।" साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है, क्योंकि वह बाह्य यथार्थ के साथ-साथ भीतरी सत्य को भी उजागर करता है। प्राकृतिक दर्पण केवल बाह्य रूप को दर्शाता है, जबकि साहित्य मनुष्य की चेतना का दर्पण बनकर उसके आंतरिक संसार को भी स्पष्ट करता है।

मिथिला की चिंतनधारा अपनी विशिष्ट दार्शनिक परंपरा के कारण एक अलग पहचान रखती है। इस क्षेत्र के साहित्य में निहित जीवन-दृष्टि, नैतिक बोध और सांस्कृतिक चेतना उसे विशिष्ट स्वर प्रदान करते हैं। इसी संदर्भ में साहित्य को दीप या ज्योति के रूप में देखना उपयुक्त प्रतीत होता है; जो समाज और मनुष्य दोनों को आलोकित करता है।

उच्च कोटि की साहित्यिक सृष्टि के लिए यथार्थ और आदर्श का संतुलित समन्वय आवश्यक माना जाता है, जिसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जाता है। यथार्थ जीवन की जटिलताओं से परिचित कराता है, जबकि आदर्श चेतना को ऊँचाई की ओर प्रेरित करता है। उपन्यास इसी संतुलन के माध्यम से जीवन को अर्थपूर्ण रूप में प्रस्तुत करता है।

चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया भी इसी जीवन-सत्य से जुड़ी रहती है। जटिल सामाजिक परिवेश में निर्मित पात्र संघर्षों, दुर्बलताओं और आत्मसंघर्ष से गुजरते हुए विकसित होते हैं। महान व्यक्तित्वों में भी सीमाएँ और कमजोरियाँ होती हैं। उनके परिष्कार और सुधार की प्रक्रिया मनुष्य-निर्माण का मार्ग प्रशस्त करती है। यही प्रक्रिया उपन्यास के मूल उद्देश्य के रूप में सामने आती है। साहित्य का आधार आदर्श है, जो रचना को कलात्मक गरिमा प्रदान करता है और उसे दीर्घकालिक प्रभावशीलता से संपन्न बनाता है।

मैथिली से हिंदी अनुवाद इसी संदर्भ में विशेष महत्व रखता है। मैथिली की सामाजिक संरचना, संवेदना और इनकी जीवन-दृष्टि अपने साथ एक विशिष्ट अनुभव-संसार लेकर आती है। हिंदी में अनुवाद उस संसार को नए पाठकों से जोड़ता है। इस जोड़ में लय, भाव, संबंधों की सूक्ष्मता और जीवन की गति साथ-

साथ चलती है। अनुवाद तभी सार्थक होता है जब वह मूल रचना के साथ निरंतर संवाद बनाए रखे।

उपन्यास 'आमों का बाग़' साहित्यिक संवाद की उसी परंपरा को आगे बढ़ाता है, जहाँ भाषा जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है, उसकी सीमा नहीं। इसका मूल मैथिली उपन्यास 'आमक गाछी' ग्रामीण जीवन की उस संरचना से जन्म लेता है, जिसमें श्रम, संबंध और समय एक-दूसरे से अलग नहीं होते। हिंदी रूपांतरण इस रचना को व्यापक पाठक-वर्ग तक पहुँचाने का प्रयास है, और अनुवाद दो भाषाओं के साथ-साथ दो पाठकीय संस्कृतियों को जोड़ने वाले सेतु के संवेदना, अनुभव और सामाजिक स्मृति अपना मूल स्वर यहाँ सुरक्षित रखती हैं। इसी बोध में उपन्यास की शक्ति और अनुवाद की जिम्मेदारी निहित है।

'आमों का बाग़' उस सामाजिक भूमि से उपजता है, जहाँ जीवन बहुआयामी रूप में आगे बढ़ता दिखाई देता है। गाँव यहाँ एक सजीव संरचना के रूप में उपस्थित है। खेत, बाग, घर, शिक्षा, नौकरी और रिश्ते परस्पर जुड़े हैं और एक-दूसरे को सँभालते हुए आगे की दिशा तय करते रहें हैं। उपन्यास का संसार उस समय से आकार ग्रहण करता है, जब श्रम और उम्मीद साथ चलते हैं और परिवर्तन धीरे-धीरे अपनी जगह बनाता है। इसी कारण "आमों का बाग़" एक प्रभावी प्रतीक बनता है, जो देखभाल, धैर्य और समय के साथ फल देने वाली प्रक्रिया को दर्शाता है। यहाँ ये महत्वपूर्ण है कि यह रचना साधारण जीवन की परतों को खोलने में निहित है। पीढ़ियों के बीच संबंध, शिक्षा से जुड़ी आकांक्षाएँ, आर्थिक दबाव और पारिवारिक संतुलन शांत ढंग से कथा में विन्यस्त हैं। उपन्यास संकेत देता है कि सामाजिक बदलाव घर के भीतर आकार लेते हैं और निर्णय रोज़मर्रा के छोटे मोड़ों पर आकर निर्मित होते हैं।

इसी सामाजिक यथार्थ के भीतर उपन्यास एक महत्वपूर्ण समकालीन पक्ष को भी अप्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करता है, जिसे आज सहजीवन संबंध (लिव-इन रिलेशनशिप) के संदर्भ में देखा जाता है। जगमोही और धीरेन्द्र के संबंध में दिखाई देने वाला संयम, दूरी और ठहराव उस प्रवृत्ति से भिन्न दृष्टि प्रदान करता है, जहाँ निकटता को सामाजिक संदर्भ से अलग मान लिया जाता है। यहाँ साथ होने की कल्पना भावनात्मक आकर्षण या व्यक्तिगत सुविधा तक सीमित नहीं

रहती, बल्कि परिवार, समाज और भविष्य की साझा जिम्मेदारियों से जुड़ती है। उपन्यास स्पष्ट करता है कि संबंध तभी स्थायित्व प्राप्त करते हैं, जब वे सामाजिक संवाद और पारिवारिक सहभागिता की प्रक्रिया से होकर आगे बढ़ते हैं। इसके अभाव में निर्मित सहजीवन तात्कालिक स्वतंत्रता तो दे सकता है, पर दीर्घकालिक सुरक्षा और विश्वास की ठोस भूमि तैयार नहीं कर पाता। इस प्रकार रचना सहजीवन संबंध को किसी पक्षधरता के बिना व्यापक सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में रखती है और यह स्पष्ट करती है कि रिश्तों की वास्तविक कसौटी साथ रहने के निर्णय से आगे बढ़कर उस उत्तरदायित्व में निहित होती है, जिसे व्यक्ति समाज के प्रति स्वीकार करता है।

जगदीश प्रसाद मण्डल की जीवन-दृष्टि इस कृति में काफी सहज रूप से अभिव्यक्त होती है। उनके पात्र अपने समय की सीमाओं के साथ आगे बढ़ते हैं और अनुभव तथा यथार्थ के धरातल पर खड़े दिखाई देते हैं। इसी कारण कथा विश्वसनीय बनती है और पाठक अपने जीवन से उसका संबंध स्थापित कर पाता है। मैं मानती हूं कि अंततः यह उपन्यास जीवन को किसी निष्कर्ष तक पहुँचाने की आकांक्षा नहीं रखता, अपितु उस प्रक्रिया को दर्ज करता है, जिसके भीतर मनुष्य स्वयं से संवाद करता है। "आमों का बाग़" इसी सतत यात्रा का रूपक है, जहाँ आज बोया गया बीज भविष्य में फल देता है और बीच का मार्ग श्रम तथा धैर्य से आकार लेता है।

उपन्यास का आरंभ घटना-वर्णन से आगे बढ़कर समय-बोध और परिवेश की सघन रचना से होता है। बीस जून की तिथि, जेठ की तपिश, हाल की वर्षा और आमों के पकने के विवरण से शुरुआत करता यश उपन्यास; उस भूमि को तैयार करता हैं, जहाँ जीवन धीरे-धीरे आकार ग्रहण करता है। 'आमों का बाग़' सजावटी दृश्य भर न रहकर श्रम, अनुशासन और प्रतीक्षा का सशक्त प्रतीक बनकर उभरता है। प्रेमनगर के किसानों की कतारबद्ध गाछी-कलम की व्यवस्था एक ऐसी जीवन-दृष्टि की ओर संकेत करती है, जिसमें संतुलन और सामंजस्य को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। आरंभिक पड़ाव से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा का विकास क्रमिक गति से होगा।इसी परिवेश में धीरेन्द्र और जगमोही का आगमन होता है। प्रेमनगर पहुँचना किसी सुविचारित योजना का परिणाम नहीं लगता; छुट्टी और आम खाने का बहाना उन्हें वहाँ ले आता है। यह बहाना जीवन की सहज लय को उभारता है और संकेत देता है कि बड़े परिवर्तन प्रायः साधारण

कारणों से जन्म लेते हैं। दोनों का संबंध नाम, जाति या पारिवारिक पहचान से निर्धारित नहीं होता। एक ही कॉलेज, एक ही विषय और समान शैक्षणिक वातावरण उनका साझा धरातल बनता है, जिससे उनके बीच एक मौन निकटता आकार लेने लगती है।

कॉलेज–विशेष रूप से ट्यूटोरियल कक्षा–का चित्रण इस पड़ाव का महत्त्वपूर्ण आयाम है। यहाँ शिक्षा की वास्तविक स्थिति, विद्यार्थियों की रुचि-अरुचि, शिक्षकों की भूमिका और पाठ्यक्रम की सीमाएँ स्पष्ट रूप से सामने आती हैं। ट्यूटोरियल कक्षा में धीरेन्द्र और जगमोही की उपस्थिति उनकी अध्ययनशीलता का संकेत देती है। उत्तरों के माध्यम से दोनों एक-दूसरे की बौद्धिक समझ को पहचानने लगते हैं। इस स्तर पर उपन्यास प्रेम को तुरंत नाम देने से बचता है और पहले दृष्टि, जिज्ञासा तथा मन के आकर्षण को स्थान देता है।

पुस्तकालय और रीडिंग रूम का दृश्य इस भावभूमि को और सघन करता है। शीशे की दीवारों के आर-पार देखना और एक-दूसरे को पढ़ते हुए देखना उस सीमा को रेखांकित करता है, जहाँ आकर्षण और संकोच साथ-साथ चलते हैं। रिश्ते की संभावनाएँ मन में तौली जाती हैं और वहीं एक ठहराव जन्म लेता है। यही ठहराव इस पड़ाव की मूल अर्थवत्ता है।

पहला पड़ाव संकेत देता है कि उपन्यास का केंद्रीय प्रश्न केवल प्रेम तक सीमित नहीं रहता। शिक्षा, सामाजिक अनुशासन, पारिवारिक मर्यादा और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ धीरे-धीरे एक-दूसरे को समझने की प्रक्रिया में आगे बढ़ती हैं। आमों के बाग़ की तरह यहाँ संबंध भी समय और धैर्य की माँग करते हैं। यह पड़ाव जीवन की उसी प्रक्रिया को सामने रखता है, जिसमें बीज बोया जाता है और फल समय के साथ विकसित होता है।

पहले पड़ाव में जो संबंध दृष्टि और जिज्ञासा के स्तर पर बनता है, दूसरे पड़ाव में वही संबंध जीवन की ठोस वास्तविकताओं से जुड़ने लगता है। जगमोही धीरेन्द्र के डेरे से लौटती है और उसके साथ एक नई मानसिक हलचल भी चली आती है। दूरी भले ही दो किलोमीटर की हो, मन का सफर उससे कहीं लंबा हो जाता है। कमरे में अकेली पहुँचते ही विचारों का दबाव बढ़ने लगता है। पढ़ाई का अंतिम चरण, उम्र की दहलीज, विवाह की आशंका, पिता की सीमित आमदनी

और समाज में व्याप्त दहेज की प्रवृत्ति, ये सभी प्रश्न एक साथ उसके समक्ष उभर आते हैं। यहां उपन्यास जगमोही के माध्यम से यह रेखांकित करता है कि स्त्रियों के संघर्ष और कईं ज्यादा हैं। इनकी युवावस्था का गूढ़ संघर्ष प्रायः मन के भीतर ही घटित होता है।

जगमोही और उसकी माँ सुवासिनी के बीच का संवाद इस पड़ाव को विशेष अर्थ देता है। बेटी द्वारा धीरेन्द्र का नाम लेते ही माँ की जिज्ञासा पढ़ाई, कद-काठी और पारिवारिक स्थिति की ओर मुड़ जाती है। यह प्रतिक्रिया उस सामाजिक मानसिकता को उजागर करती है, जिसमें बेटियों की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से विवाह की चिंता के साथ जुड़ी रहती है। बातचीत में अपनापन है; सहजता है पर उसके भीतर एक स्थायी भय मौजूद है। घर की सहजता के पीछे छिपी चिंता इस प्रसंग में स्पष्ट रूप से सामने आती है।

इसके साथ ही पिता रामलखन और सहकर्मी कन्हैया की बातचीत कथा को घरेलू दायरे से बाहर ले जाती है। रोज़गार, वेतन, कर्ज, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ और सामाजिक अपेक्षाएँ यहाँ केंद्र में आ जाती हैं। यह प्रसंग दिखाता है कि नौकरी सम्मान के साथ-साथ आर्थिक दबाव भी अपने भीतर समेटे रहती है। परिवार-व्यवस्था के भीतर एक असंतुलन उभरता है, जहाँ उपार्जन और घरेलू प्रबंधन अलग-अलग जिम्मेदारियों के रूप में बँटे दिखाई देते हैं। संकट के समय साझा निर्णय का अभाव आगे के संघर्षों को और जटिल बना देता है।

दहेज इस पड़ाव की सबसे तीखी सामाजिक परत बनकर उभरता है। इसे किसी वैचारिक वक्तव्य की तरह प्रस्तुत नहीं किया गया है, बल्कि यह आर्थिक गणना, सामाजिक प्रतिष्ठा और बेटी के भविष्य को जोड़ने वाली एक यथार्थ स्थिति के रूप में सामने आता है। रामलखन, सुवासिनी और जगमोही तीनों इसे अपने-अपने स्तर पर महसूस करते हैं। दहेज विचारों, रिश्तों और बातचीत का हिस्सा बनकर घर के भीतर गहराई से प्रवेश करता है।

इस पड़ाव में संबंध का स्वर भी बदलता है। जगमोही का रीडिंग रूम में धीरेन्द्र के साथ पढ़ने का निर्णय संबंध को संवाद और अध्ययन की दिशा देता है। यह निर्णय भावनाओं के बहाव में लिया गया नहीं लगता। प्रेमनगर और जीबेन्द्र के विचार इस संदर्भ में एक मूल्य-सूत्र प्रस्तुत करते हैं, जो दहेज को स्वीकृति देने वाली मानसिकता के समानांतर एक वैकल्पिक दृष्टि सामने लाते

हैं।

पड़ाव के अंत में रीडिंग रूम का संवाद संबंध को नई गहराई प्रदान करता है। बराबरी, विवाह और सामाजिक धारणाओं पर हुई बातचीत यह स्पष्ट कर देती है कि आगे की कथा भावनात्मक उतावलेपन से संचालित नहीं होगी। रिश्ते की वास्तविक परीक्षा आर्थिक दबाव, सामाजिक रीति, पारिवारिक संरचना और व्यक्तिगत विवेक के बीच घटित होगी। इसी बिंदु पर यह पड़ाव आगे की दिशा निर्धारित करता है और पाठक के लिए विचार की खुली जगह छोड़ता है।

तीसरे पड़ाव में कथा एक स्पष्ट दिशा ग्रहण करती है। पहले दो पड़ावों में जो संबंध कॉलेज, रीडिंग रूम और निजी जिज्ञासा के स्तर पर विकसित होता दिखाई देता है, वह अब घर के भीतर प्रवेश करता है। यह प्रवेश छुट्टी के बहाने, अमैया छुट्टी की चर्चा और प्रेमनगर जाने की योजना के सहारे धीरे-धीरे आकार लेता है। उपन्यास संकेत देता है कि जब निजी आकर्षण परिवार के ताने-बाने से जुड़ता है, तब वह व्यक्तिगत अनुभव से आगे बढ़कर सामाजिक प्रश्न का रूप ले लेता है। इस पड़ाव की शुरुआत छुट्टी के विचार से होती है। कॉलेज बंद होने वाला है और एक महीना गाँव में बिताने की कल्पना जगमोही और धीरेन्द्र, दोनों के मन में उभरती है। इसी प्रसंग में लेखक शिक्षा-व्यवस्था पर दृष्टि डालता है। सरकारी और निजी संस्थानों के अलग नियम, अनुशासन का ढीला पड़ना, पढ़ाई की जगह सुविधाओं और औपचारिकताओं का बढ़ना, आरक्षण की जटिलता और निजी संस्थानों में धन-आधारित चयन जैसे तत्व कथा को समकालीन संदर्भ से जोड़ते हैं। शिक्षा यहाँ समाज की संरचना को समझने का माध्यम बन जाती है और यह स्पष्ट होता है कि उपन्यास व्यक्ति-कथा के साथ-साथ व्यवस्था की कथा भी अपने भीतर समेटे चलता है।

इसी वातावरण में धीरेन्द्र और जगमोही के संबंध की स्थिति उभरती है। वर्षों तक साथ पढ़ने के बावजूद संवाद का अवसर सीमित रहा था; नहीं रहा थे। एक दिन उन दोनों के मध्य बातचीत होती है जो इन दोनों के भीतर नई चेतना जगाती है। इसके बाद धीरेन्द्र का प्रेमनगर जाने का प्रस्ताव सामने आता है। यह प्रस्ताव व्यावहारिक स्वर ग्रहण करता है और संबंध को अगले चरण की ओर अग्रसर करता है। प्रेमनगर का महत्व भी यहीं स्पष्ट होता है। वह धीरेन्द्र का गाँव है और जगमोही का मातृक। एक ही स्थान दो पहचान के साथ उपस्थित होता है

और इसी दोहरेपन में कथा की भावधारा आगे बढ़ती है।

तीसरे पड़ाव का बड़ा हिस्सा घर के भीतर घटित होता है। सुवासिनी के मन में धीरेन्द्र को लेकर आशा की एक रेखा उभरती है। बेटी के भविष्य का दबाव, आर्थिक सीमाएँ, तीन बेटियाँ और उनके विवाह की चिंता उसे भीतर से घेरे रहती है। धीरेन्द्र उसे एक संभावित सहारे के रूप में दिखाई देने लगता है।

रामलखन इस बहस का दूसरा केंद्र बनता है। छुट्टी, मायका, परिवार और नौकरी की बाध्यताओं के बीच वह संतुलन साधने का प्रयास करता है। सुवासिनी की बातों में भावनात्मक जुड़ाव और आत्मसम्मान झलकता है, जबकि रामलखन के भीतर नौकरी और सीमित साधनों का दबाव उपस्थित रहता है। इसी अंतर से घर के भीतर संवाद की जमीन तैयार होती है।

जगमोही की सक्रिय भूमिका इस पड़ाव को निर्णायक बनाती है। वह पिता को धीरेन्द्र के बारे में बताती है और स्पष्ट करती है कि वह उसका कॉलेज का साथी है और उसी ने प्रेमनगर आने का प्रस्ताव दिया है। इससे पिता के भीतर एक जिज्ञासा जन्म लेती है।

इस पड़ाव का अंत एक छोटे, लेकिन निर्णायक समझौते से होता है। छुट्टी का समय तय होता है, यात्रा की योजना बनती है और इसकी जिम्मेदारी रामलखन अपने हाथ में लेता है। इस समझौते के साथ कथा आगे बढ़ती है, क्योंकि प्रेमनगर जाना अब सिर्फ अवकाश नहीं रहता। वह संबंध, सामाजिक मूल्यों और भविष्य की दिशा से स्पष्ट रूप से जुड़ चुका होता है।

चौथे पड़ाव में कथा का केंद्र पटना से हटकर प्रेमनगर की मिट्टी पर टिक जाता है। यह बदलाव पहचान की एक प्रक्रिया में रूपांतरित हो जाता है। धीरेन्द्र अपने भीतर यह बोध स्पष्ट करता चलता है कि वह पढ़ाई भले ही शहर में करे, उसका ठिकाना और आत्मीय संसार प्रेमनगर से जुड़ा है। इसी बिंदु पर उपन्यास एक व्यापक सत्य को पकड़ता है। मनुष्य की कमाई, शिक्षा और अपनापन अलग-अलग स्थानों से आकार लेते हैं और इनके बीच बना तनाव उसके निर्णयों तथा संबंधों को दिशा देता है। प्रेमनगर लौटते ही धीरेन्द्र का मन अपने श्रम, अपनी जड़ों और आने वाले समय की ओर एक साथ खुलता है।

धीरेन्द्र की तैयारी और यात्रा-विवरण में कर्म और भूमि अलग-अलग अवधारणाएँ नहीं बनतीं। मातृभूमि का आकर्षण व्यवहार और जिम्मेदारी में

उतरता दिखाई देता है। धीरेन्द्र का व्यक्तित्व पढ़ाई के साथ खेती, बाड़ी, पशु-देखभाल और पेड़ लगाने की आदतों से निर्मित है। यह जीवन-प्रशिक्षण का परिणाम है, जो उसके चरित्र की आधारशिला बनता है। उपन्यास यहाँ श्रम-संस्कृति से गढ़े गए उस मनुष्य का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है, जो शिक्षित भी है और अपनी मिट्टी से गहराई से जुड़ा हुआ भी।

पाँच आम के पेड़ों का प्रसंग इस पड़ाव को एक ठोस प्रतीक प्रदान करता है। अलग-अलग समय पर फल देने वाली किस्मों का चयन भविष्य-बोध को व्यक्त करता है। यह दृष्टि संबंधों में भी उतावलापन नहीं आने देती। धीरेन्द्र का प्रेम इसी क्रमबद्धता के साथ आगे बढ़ता है। आम के मौसम का फैलाव संयम और धैर्य का बिंब बन जाता है।

पटना से प्रेमनगर के यात्रा के दौरान बस का दृश्य समाज के स्वभाव को दिखाता है। छोटी बातों पर बहस, कड़ी भाषा और अंत में शांति की चाह रखने वाला सामूहिक स्वर, यह सब बाहरी हलचल और भीतर चल रहे विचारों के समानांतर चलता है। प्रेमनगर पहुँचते ही माँ सुभावी का व्यवहार पूरे घर में एक स्नेहिल ऊष्मा का वातावरण रच देता है। बेटे का पहला आग्रह आम देखने का होता है। यह अपने श्रम के परिणाम से जुड़ने की तड़प को प्रकट करता है। आम के बाग में जगमोही का स्मरण प्रेम से आगे बढ़कर जिम्मेदारी में बदल जाता है। उसकी पढ़ाई, भविष्य और दहेज जैसी सामाजिक चिंताएँ धीरेन्द्र के मन में एक साथ उभरती हैं। प्रेम यहाँ निजी अनुभूति से आगे बढ़कर सामाजिक धरातल पर स्थित हो जाता है।

पिता जीबेन्द्र का संक्षिप्त संवाद कथा को संतुलन प्रदान करता है। वे श्रम का सम्मान करते हैं और उसे उदारता से जोड़ते हैं। अपने लगाए पेड़ का फल बाँटने की बात घर की समझदारी और सामाजिक भाव का विस्तार बन जाती है। इस प्रकार चौथा पड़ाव श्रम, प्रेम और सामाजिक चेतना को एक ही सूत्र में बाँध देता है।

पाँचवें पड़ाव में कथा प्रेमनगर की यात्रा के माध्यम से एक व्यापक सामाजिक यथार्थ को उजागर करती है। रामलखन का यह कहना कि भोर की बस पकड़नी है, पूरे घर की दिनचर्या बदल देता है। बाहरी तैयारी से अधिक गहरी हलचल सुवासिनी के भीतर उठती है। बारह वर्षों बाद मायके जाने का भाव

स्मृतियों, रिश्तों और सामाजिक अपेक्षाओं को एक साथ जगा देता है। यह यात्रा भौतिक दूरी से अधिक मानसिक धरातल पर घटित होती है। क्या लेकर जाया जाए, किससे कैसे मिला जाए और अब वहाँ अपना स्थान क्या है, ये प्रश्न उसके मन में लगातार घूमते रहते हैं।

इस पड़ाव में सुवासिनी के मायके की पृष्ठभूमि स्पष्ट होती है। राधारमण का किसान परिवार, दस बीघा जमीन, बँसवारी और मवेशी ग्रामीण जीवन के उस ढाँचे को सामने लाते हैं, जहाँ बदलाव और निरंतरता साथ-साथ चलते हैं। दो बेटे रोज़गार के कारण शहरों में बस चुके हैं, जबकि श्याम का गाँव में टिकना पारिवारिक जिम्मेदारी और सामाजिक संतुलन को सँभाले रखने का निर्णय बन जाता है। राधारमण और बुधनी की बातचीत यह दिखाती है कि गाँव में रहना केवल आजीविका का प्रश्न नहीं है, बल्कि परिवार की धुरी बने रहने का दायित्व भी है। श्याम का असंतोष और उसकी भावनात्मक प्रतिक्रिया इसी दायित्व से जन्म लेती है।

रामलखन का यह स्वीकार कि प्रेमनगर में निर्णय की समझ पत्नी के पास है, उसके सहचर-भाव को प्रकट करता है। वह संबंधों को आदेश या नियंत्रण की शर्तों में नहीं बाँधता, बल्कि भरोसे की भावना से देखता है। इसी संदर्भ में जगमोही का यह विचार कि मामा के बच्चों के लिए कपड़े, मिठाई और पढ़ाई का सामान लिया जाए, नई पीढ़ी की संवेदनशीलता को स्पष्ट करता है। उसके लिए रिश्ते मात्र रस्म नहीं रह जाते, बल्कि जिम्मेदारी और अपनत्व की सचेत समझ में बदल जाते हैं।

यात्रा की तैयारी जो मध्यवर्गीय जीवन की सावधानियों को उभारती है। रात में उठना, भोजन और पानी रखने की चिंता, लंबा बस-सफर और सीमित सुविधाएँ अनुशासन और सतर्कता की माँग करती हैं। प्रेमनगर पहुँचते ही कथा घर की देहरी से निकलकर समाज के बीच फैल जाती है। पीपर के नीचे बैठी स्त्रियों की बातचीत यह स्पष्ट करती है कि गाँव किसी घटना को निजी रहने नहीं देता, बल्कि उसे सामूहिक अनुभव में बदल देता है। गप-शप, व्यंग्य और घरेलू बुद्धि लोक-जीवन की स्वाभाविक भाषा बन जाती है।

बसे तीखा स्वर श्याम के अंतर्मन में उभरता है। बहन के जीवन को लेकर उसका क्षोभ, बेटा-बेटी की असमानता और मायके-ससुराल की दूरी पर उठे प्रश्न

कथा को मानसिकता की जड़ तक ले जाते हैं। यहाँ समस्या दहेज से पहले बराबरी की समझ से जुड़ती है। श्याम यह मानता है कि समानता कथनों से नहीं सामाजिक व्यवहार से जन्म लेती है।

पड़ाव के अंत में बस का आना, भीड़ की हलचल और रिश्तों के औपचारिक संकेत कथा को आगे बढ़ाते हैं। प्रेममोही का प्रवेश एक नई कसक जोड़ता है, जहाँ प्रेम सामाजिक हैसियत और विवाह-व्यवस्था से जुड़ने लगता है। पाँचवाँ पड़ाव मायके को स्मृति से आगे एक सामाजिक संस्था के रूप में प्रस्तुत करता है और कथा को व्यक्तिगत भावभूमि से व्यापक सामाजिक प्रश्नों की ओर ले जाता है।

छठा पड़ाव उपन्यास की उस संरचना को सामने लाता है, जहाँ निजी अनुभव, सामाजिक दबाव और सामूहिक मानसिकता परस्पर मिलती हुई दिखाई देती हैं। जगमोही द्वारा धीरेन्द्र को प्रेमनगर पहुँचने की सूचना देना और फिर उसे भूल जाना एक साधारण घटना नहीं रह जाता। यह भूल गाँव-समाज में प्रवेश करते ही संबंधों की अस्थिरता और लोक-दृष्टि की सक्रियता का संकेत बन जाती है। यहाँ छोटी-सी बात भी व्यापक अर्थ ग्रहण कर लेती है, क्योंकि सामाजिक स्मृति और अफवाह व्यक्ति के निजी व्यवहार को सार्वजनिक निगाह में रख देती हैं।

कोर्ट और वकील का रूपक समाज के निर्णय-तंत्र की प्रकृति को उजागर करता है, जहाँ तथ्य के साथ-साथ प्रभाव और धारणा भी महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। प्रेमनगर का भौगोलिक और सामाजिक विस्तार केवल कथा की पृष्ठभूमि तक सीमित नहीं रहता। धार का रुकना, पोखर का बनना, नई बसावट और वर्गीकरण सामाजिक परिवर्तन, संसाधन-संघर्ष और गणनात्मक जीवन-पद्धति की ओर संकेत करते हैं। जाति, धर्म, व्यवहार और राजनीतिक अवसरवाद का चित्र सामूहिक जीवन की व्यावहारिक वास्तविकता को सामने लाता है।

जीबेन्द्र और मुसन के संवाद में दहेज और पुत्र-केन्द्रित सोच पर उठते प्रश्न लेखक के सरोकार को स्पष्ट करते हैं। यहाँ यह बोध उभरता है कि सामाजिक परिवर्तन केवल नीतियों से नहीं, संवाद और व्यक्तिगत विवेक से आकार लेता है। सुवासिनी का प्रसंग स्त्री-जीवन की असुरक्षा, बेटियों को लेकर समाज में व्याप्त भय और मायके तथा ससुराल के द्वंद्व को सामने लाता है।

समाधान किसी तात्कालिक निष्कर्ष में नहीं, जीवन की लंबी प्रक्रिया में निहित दिखाई देता है।

जगमोही, प्रेममोही और धीरेन्द्र के बीच फैला मौन इस तथ्य को सामने लाता है कि आधुनिक शिक्षा, शहर से संपर्क और तकनीकी साधनों के बावजूद सामाजिक संकोच बना रहता है। इस प्रकार छठा पड़ाव उपन्यास की मूल दृष्टि को और अधिक पुष्ट करता है, जहाँ प्रेम, संबंध और व्यक्ति की चेतना समाज की संरचना से जूझते हुए आगे बढ़ती है। मनुष्यता को बचाए रखने की जद्दोजहद यहाँ उपन्यास का केंद्रीय सरोकार बन जाती है।

सातवाँ पड़ाव उपन्यास की उस संवेदनशील अवस्था को सामने लाता है, जहाँ निजी रिश्ते, सामाजिक संकोच और पीढ़ीगत अनुभव एक ही संवाद-परिसर में आमने-सामने आ जाते हैं। शाम के समय सुवासिनी, श्याम, जगमोही और धीरेन्द्र की उपस्थिति गाँव-समाज की भीतरी संरचना, उसके अनकहे नियम और स्त्री-जीवन की असुरक्षा को स्पष्ट करती है। सुवासिनी का मन संबंध की संभावना की ओर बढ़ता है, पर वह संकेतों और सावधानी की सीमा के भीतर ही ठहरा रहता है। इससे यह बोध उभरता है कि समाज व्यक्ति को अपनी इच्छा खुलकर व्यक्त करने की सीमित जगह ही देता है।

श्याम की प्रतिक्रिया समाज को सतत बदलते विचार-क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत करती है। यहाँ निर्णय निजी विवेक और सामूहिक प्रतिक्रिया के बीच आकार ग्रहण करते हैं। इसी बिंदु पर सुभावी और जीबेन्द्र का प्रवेश इस संवाद को पीढ़ीगत विमर्श का रूप दे देता है। सुभावी की प्रतिक्रिया स्त्री के अनुभवजन्य यथार्थ से उपजती है, जहाँ विवाह, मायका और ससुराल स्मृति, भय और पीड़ा से जुड़े रहते हैं। जीबेन्द्र का दृष्टिकोण संतुलन की भाषा में सामने आता है। वह अतीत को कुरेदने के बजाय उसे समझकर आगे बढ़ने की दिशा सुझाता है।

इस पड़ाव में लेखक किसी तात्कालिक समाधान की ओर नहीं बढ़ते। संवाद के माध्यम से यह स्पष्ट किया जाता है कि दहेज, विवाह और संबंध जैसे प्रश्न सामाजिक ढाँचे में कितनी जटिलता के साथ उपस्थित रहते हैं। जगमोही का शिक्षित होना, परिवार की स्थिति और भविष्य को लेकर उसका असमंजस समकालीन स्त्री की उस वास्तविकता को सामने लाता है, जहाँ शिक्षा के बाद भी जीवन की राह अपने आप स्पष्ट नहीं हो पाती।

जीबेन्द्र द्वारा आम का प्रसंग उठाना प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करता है। घरेलू सहजता के सहारे वह संबंध को सामाजिक स्वीकार्यता की दिशा में ले जाने का संकेत देता है। उसी क्षण उसका प्रस्ताव और जगमोही का संयमित प्रत्युत्तर यह स्पष्ट कर देता है कि निजी सहमति के बाद भी सामाजिक कसौटी शेष रहती है, और वही सबसे कठिन होती है।

इस प्रकार सातवाँ पड़ाव लेखक के मूल उद्देश्य को सघन रूप में उजागर करता है। संबंध भावनात्मक उतावलापन नहीं माँगते। वे समय, संवाद, संयम और सामाजिक चेतना की प्रक्रिया से आकार लेते हैं। व्यक्ति की आकांक्षा बार-बार समाज की स्वीकृति के प्रश्न से टकराती है, और यही टकराव उपन्यास के केंद्रीय सरोकार को गहराई प्रदान करता है।

आठवाँ पड़ाव समय-परिवर्तन के सहारे सामाजिक जीवन के भीतर चलती सूक्ष्म प्रक्रियाओं को सामने लाता है। आषाढ़ के पहले झमझमाती वर्षा, आद्रा नक्षत्र की आद्रता और धरती में उतरती नमी को उपन्यासकार केवल प्राकृतिक सूचना के रूप में नहीं रखते। यह नया परिवेश जन-मन और जन-धन को प्रभावित करता हुआ रचा गया है। इसी के साथ प्रेमनगर का किसान जागता है, खेती का पी-पाह आरंभ होता है। मौसम यहाँ पर जीवन की गति निर्धारित करता है और सामूहिक श्रम सामाजिक पहचान का रूप ग्रहण करता है। लेखक किसानी को भोजन-व्यवस्था का मूल आधार मानते हुए बाजार-व्यवस्था के दबाव में टूटती ग्रामीण परंपराओं की पीड़ा भी साथ रखते हैं। बुनकर-व्यवस्था का बिखरना और पटुआ जैसी नगदी खेती का पिछड़ना इस आर्थिक संक्रमण और सांस्कृतिक विच्छेद की स्थिति को स्पष्ट करता है।

पंद्रह दिन कैसे बीत गए, यह जगमोही और सुवासिनी को ठीक से पता नहीं चलता। इस वाक्य के माध्यम से लेखक आत्मीयता को एक सामाजिक अनुभव के रूप में पकड़ते हैं। प्रेमनगर का वातावरण दोनों को आकृष्ट करता है, पर पटना से जुड़ाव बना रहता है। इससे ग्रामीण अपनापन और शहरी जिम्मेदारियों के बीच संतुलन उभरता है। इसी क्रम में लेखक यह संकेत भी देते हैं कि एक ही रास्ते पर चलने वालों के बीच वैचारिक अंतर बना रह सकता है, जो आगे चलकर विवाह और सामाजिक स्वीकृति के स्तर पर तनाव का कारण बनता है।

आम के उतार-चढ़ाव का विवरण इस पड़ाव में प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करता है। रोहनिया, बम्बइ और गुलाबखास का उतरना तथा कृष्णभोग, मालदह और जरदालू का चढ़ना जीवन के विभिन्न चरणों की ओर संकेत करता है। प्रेमनगर की गिरहस्ती यहाँ समय, स्वाद और आवश्यकता के अनुसार चयन करती दिखाई देती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गाँव का लोक-जीवन सीमित नहीं रहता, वह बाहर की दुनिया को देखता और समझता भी है।

सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन सुवासिनी के भीतर घटित होता है। पहले बेटी की पढ़ाई के साथ विवाह की चिंता बढ़ती जाती थी, अब वह भय धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगता है। यह बदलाव परिवेश और संवाद की धीमी प्रक्रिया से जन्म लेता है। जगमोही भी सखी-सहेली के बीच सहज रूप से घुल-मिल जाती है। स्कूल-कॉलेज, गाँव-शहर और समकालीन जीवन पर होने वाली बातचीत उसके व्यक्तित्व को अधिक अध्ययनशील बनाती है और स्त्री-शिक्षा को चेतना के रूप में स्थापित करती है।

जीबेन्द्र और धीरेन्द्र का संवाद इस संबंध को सामाजिक स्वीकृति की दिशा में संकेत करता है। आम की किस्मों का चयन और पूरे मौसम वाले गाछ लगाने की सोच जीवन को योजनाबद्ध ढंग से गढ़ने की दृष्टि को प्रकट करती है। घरेलू संकेत, आशीर्वाद और सामूहिक उपस्थिति रिश्तों की दिशा तय करती है। आठवाँ पड़ाव यह स्पष्ट करता है कि परिवर्तन मौसम की तरह आता है, मन में उतरता है और फिर संबंधों तथा विचारों की भूमि को धीरे-धीरे नया रूप देता है।

अन्तिम पड़ाव उपन्यास को उस समापन-बिंदु तक ले आता है, जहाँ छुट्टी का अंत, लौटने की तैयारी और विदाई की उदासी एक साथ मिलकर सामाजिक प्रश्नों की अंतिम कसौटी बन जाती है। अगले दिन कॉलेज खुलना है और रात की गाड़ी से सुवासिनी का परिवार तथा धीरेन्द्र पटना लौटने वाले हैं। यह सूचना गहरे परिवर्तन का संकेत बन जाती है, क्योंकि जाने से ठीक पहले घर-आँगन में जो संवाद घटित होता है, वह यह स्पष्ट करता है कि रिश्ते अब निजी दायरे तक सीमित नहीं रह गए हैं। उन्हें समाज की जटिल वास्तविकताओं के बीच टिककर आगे बढ़ना है।

दरवाजे पर श्याम और जीबेन्द्र के बीच कन्यादान और विवाह से जुड़ी बातचीत सामाजिक दबावों की पूरी संरचना को सामने लाती है। जीबेन्द्र अपने

अनुभव के आधार पर यह स्पष्ट करते हैं कि बेटी का विवाह अब परिवार का अकेला निर्णय नहीं रह गया है। आर्थिक स्थिति, सामाजिक निगाह और प्रतिष्ठा का भय हर निर्णय के साथ जुड़ा रहता है। श्याम स्वीकार करता है कि समय बदला है, विकल्प बढ़े हैं, पर मिथिला की सामाजिक कसौटियाँ अब भी प्रभावी हैं। आधुनिकता ने गति दी है, लेकिन लोक-मान्यताओं की पकड़ अब भी ढीली नहीं पड़ी है।

जगमोही के विवाह की चर्चा कथानक को निर्णायक मोड़ पर ले आती है। श्याम की यह बात कि बी.ए. के बाद ही इस पर विचार होगा, शिक्षा को प्राथमिक और स्त्रियों के लिए भी ऐसा सोच पाने की जरूरत को सामने रखती है। उधर जीबेन्द्र का अगले वर्ष धीरेन्द्र का विवाह तय करने का संकेत पारिवारिक योजना की गति को दर्शाता है। श्याम के भीतर उभरता संकोच और कठोरता उस भय की ओर संकेत करता है, जो आज लगभग हर रिश्ते के साथ चलता है। लेखक इस भय को सीधे उद्घोषित करने के बजाय संवाद की भंगिमा और मौन के भीतर रचते हैं।

आँगन में चाय का प्रसंग घरेलू सहजता के बीच सामाजिक संकेतों को सक्रिय कर देता है। बेटियों के भविष्य की चिंता, दुख सुनने की घटती क्षमता और सहयोग का सीमित होना समाज की एक विकृत तस्वीर सामने लाता है। दहेज की जड़ों पर जीबेन्द्र का विवेचन अतीत से वर्तमान तक फैले अनुकरण की प्रक्रिया को उजागर करता है, जहाँ परंपरा धीरे-धीरे विकृति में बदल गई है। यह आलोचना किसी उपदेश के रूप में नहीं आती, बल्कि पारिवारिक संवाद में सहज रूप से बहती है।

इसके बाद दृष्टि धीरेन्द्र के भीतर की ओर मुड़ती है। शिक्षा, नौकरी, गाँव लौटने और जीवन-निर्णय की तैयारी उसके मन में एक साथ आकार लेती है। जीबेन्द्र के भीतर संतोष है कि बेटे के प्रति दायित्व अपने अंतिम चरण में है, पर सुवासिनी के चेहरे पर उभरा भय सामाजिक यथार्थ की कठोर याद दिला देता है। मायके को सुरक्षा और स्वीकृति का स्थान बताकर जीबेन्द्र उस भय के सामने भरोसे की दीवार खड़ी करते हैं।

जगमोही का अंतिम कथन पूर्ण उपन्यास का सार प्रस्तुत करता है। आपसी सहयोग, नैतिक दृष्टि और संवेदनशील संबंध ही समाज को मानवीय

बनाए रखने का रास्ता हैं। जीबेन्द्र का उत्तर इसे पीढ़ीगत हस्तांतरण का रूप देता है। और इसलिए समापन किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं ठहरता। वह जिम्मेदारी पाठक के सामने छोड़ देता है कि शिक्षा, रिश्ते और सामाजिक सहयोग की दिशा समाज स्वयं तय करे। यही खुलापन उपन्यास को विचारोत्तेजक बनाता है।

अंत में यही की 'आमों का बाग़' उत्तर-आधुनिक संवेदना से रचा गया एक उपन्यास है, जिसमें जीवन को किसी एक निष्कर्ष, समाधान या सिद्धांत के अधीन नहीं किया गया है। यह कृति महान आख्यानों के स्थान पर साधारण जीवन की नैतिक जटिलताओं, संबंधों की अनिश्चितताओं और जीवन की धीमी, क्रमिक प्रक्रियाओं को केंद्र में स्थापित करती है। उपन्यास में अर्थ किसी अंतिम निर्णय से नहीं, बल्कि पाठक की सहभागिता, अनुभव और विवेक के माध्यम से उभरता है। इसी कारण रचना का स्वर खुला रहता है और इसके प्रतीक एक अर्थ तक सीमित न रहकर बहुअर्थक बन जाते हैं। यही संरचनात्मक खुलापन और नैतिक संयम इस उपन्यास को समकालीन उत्तर-आधुनिक चेतना के उस परिप्रेक्ष्य में स्थापित करते हैं, जहाँ अर्थ कोई अंतिम निष्कर्ष नहीं, बल्कि अनुभव और विचार की सतत प्रक्रिया में निरंतर निर्मित होती रहने वाली अवस्था है।

- पल्लवी मण्डल

सहरसा,

25 फरवरी 2026

1

बीस जून। माँ के साथ दोनों बहनें जगमोही प्रेमनगर पहुँचीं। 'बीस जून' कभी ज्येष्ठ की शुरुआत में पड़ता है, कभी उतरते ज्येष्ठ में, और कभी-कभी आषाढ़ के आरंभ में भी। इस बार यह उतरते ज्येष्ठ में पड़ा। बटसावित्री पर्व को हुए एक हफ्ते से ज़्यादा हो चुका है।

जीबेन्द्र की दस कट्ठे की बगिया में तीन आम के पेड़ों पर फल पकने लगे थे। बाकी सात में कुछ पर मिठास उतरनी शुरू हुई थी, और कुछ में अभी हरेपन का ही हल्का स्वाद आ रहा था। वैसे, प्रेमनगर के किसान समझदारी और मेहनत में किसी से पीछे नहीं हैं। प्रेमनगर के चारों ओर के गाँव - रामपुर, कृष्णपुर, महमदपुर और रूद्रपुर - के किसान जब भी बाग लगाते हैं, चाहे कलमी आम हो या सरही, जामुन हो या बेर, बेल हो या बड़हर, शीशम हो या गम्हार, सभी जगह एक ही तरह के पौधे एक साथ रोपते हैं। पर प्रेमनगर के किसान यह काम कतारबद्ध ढंग से करते हैं।

कतारबद्ध का मतलब यह है कि कलमी आम की बगिया में सिर्फ कलमी आम ही होंगे। न किसी भिन्न किस्म का आम, न कोई लकड़ी देने वाला उपयोगी वृक्ष। कलमी आमों की भी अपनी-अपनी जात और स्वाद होते हैं, लेकिन प्रेमनगर के किसान हमेशा एक ही जात और एक ही स्वाद वाले आम एक साथ लगाते हैं। इसका फ़ायदा यह होता है कि सारे पेड़ एक ही गति में बढ़ते हैं, फलते हैं और पकते हैं। अगर ऐसा न हो, तो जैसे बहुधर्मी समाज में कभी नहाने को लेकर झगड़ा होता है, कभी खाने को लेकर, कभी चाहने पर, तो कभी न चाहने पर, हर समय कोई न कोई खींचतान होती भी है और अरबेधी भी रहती है।

'अरबेधब' का अर्थ होता है: अग्नि के निकट जब सूखे पत्ते, टहनियाँ, लकड़ियाँ और बचे-खुचे छिलके-छोर सब एक जगह इकट्ठा हो जाएँ। भले

ये चीजें पहले थोड़ा-थोड़ा अलग रखी गई हों, लेकिन पूर्वी-पश्चिमी हवा चलने पर सब उड़कर एक ही जगह आ मिलती हैं और फिर आग लगते ही एकसाथ जल उठती हैं।

खैर, प्रेमनगर के किसान श्रेष्ठ माने जाते हैं और हैं भी। इलाके में जब भी आम की बगिया या उपयोगी वृक्षों की चर्चा होती है, तो प्रेमनगर का नाम ज़रूर लिया जाता है। हाँ, साथ में रामपुर का नाम भी आता है, पर विपरीत अर्थ में।

'विपरीत' का मतलब यह है: जैसे भगवान राम का नाम शुभ होते हुए भी जब हम कोई गंदी या खराब चीज़ देखते हैं, तो बोल उठते हैं-

"राम-राम!", या जैसे किसी शवयात्रा में "राम नाम सत है" कहकर श्मशान पार करते हैं, वैसे ही विवाह की बारात में रसगुल्ले खाते-खाते "राम-धाम" भी पार कर जाते हैं।

खैर, जो है सो है। सब पूर्ण है, सब अपूर्ण है, पर सब कुछ तो है ही।

पंद्रह जून को कॉलेज में गर्मी की छुट्टियाँ घोषित हो गईं। कुछ लोग इसे 'अमैया छुट्टी' कहते हैं, तो कुछ 'ग्रीष्मावकाश'। पर छोड़िए उस बहस को, बात तो बात ही है।

'अपने मन की मौजी पत्नी को भौजी' और लोगों के समक्ष निर्लजता को नाच नाचते रहें। भाई, पत्नी 'पत्नी' होती है। जब वह जीवन-संगिनी और अर्द्धांगिनी बनी, तो प्रेमिका भी हो गई। हलांकि कोई दिन-रात टीवी या सिनेमा में ही डूबी रहें, तो फिर अपने कर्म का समय विधाता के हवाले ही करना पड़ेगा।

गर्मी की छुट्टी मिलते ही धीरेन्द्र सीधे गाँव लौट आया। बीस जून को जगमोही भी आम खाने के बहाने अपनी ननिहाल पहुँच गई।

धीरेन्द्र और जगमोही पटना में रहकर बी.ए. फाइनल ईयर में पढ़ रहे हैं। विषय दोनों का एक ही है, इसलिए कॉलेज की कक्षाओं और ट्यूटोरियल में एक-दूसरे को देखते हैं। पर जनरल क्लास की तरह ट्यूटोरियल क्लास में भी दोनों की बेंचें अलग-अलग हैं, इसीलिए बातचीत का अवसर कभी नहीं

मिलता। वैसे, अब तक न धीरेन्द्र जगमोही को अपना अंगीत मानता है, न जगमोही धीरेन्द्र को।

समय ऐसा आ गया है कि न किसी के नाम से पहचान होती है, न जात-पात से। किसे अब इतनी फुर्सत है कि इन झमेलों में पड़े? नई पीढ़ी तो खिलाड़ियों और फिल्म कलाकारों के नाम गुनगुनाती है, अपने पुरखों के नाम याद रखने की फुर्सत किसे है? उन्हें क्या लेना-देना अपने पुरखों, वंश परंपरा या देश-दुनिया के इतिहास से? लेकिन यह भी सबको पता है कि जो जितना जीवन का रस पीना चाहता है, वह उतना ही बेचैन होकर जीता भी है।

समाजशास्त्र की जनरल क्लास में पचास से अधिक विद्यार्थी हैं, पर शनिवार को जो ट्यूटोरियल क्लास चलती है, वहाँ हाल उलटा है। उस क्लास में मुश्किल से पाँच-सात विद्यार्थी ही रहते हैं। बाकी अधिकतर छात्र मैटिनी शो में सिनेमा देखने चले जाते हैं या फिर शहर-बाज़ार घूमने। सिनेमा की ओर आकर्षण यह भी है कि छात्रों को टिकट पर छूट मिलती है।

ट्यूटोरियल क्लास का असल मकसद यह होता है कि सप्ताह के बाकी दिनों, सोमवार से शुक्रवार तक, शिक्षक जो पढ़ाते हैं, उसका उत्तर शनिवार को विद्यार्थियों से लिया जाए। पर आज के शैक्षिक माहौल में, जहाँ कॉलेजों में पढ़ाई ही नहीं हो रही, वहाँ इस ट्यूटोरियल क्लास का क्या महत्व रह गया है? छात्र तो शायद इसके नाम तक से अनजान हैं।

ट्यूटोरियल क्लास के पाँच-सात विद्यार्थियों में धीरेन्द्र और जगमोही की उपस्थिति हमेशा अनिवार्य रहती थी। बाकी विद्यार्थियों में नए और पुराने छात्र आते-जाते रहते थे। सभी शिक्षकों की ट्यूटोरियल क्लास हर सप्ताह नहीं होती थी, इसलिए यह बात सभी शिक्षक समझ भी नहीं पाते थे। वैसे, कुछ छात्रों का संबंध शिक्षकों से था, इसलिए हर शिक्षक की ट्यूटोरियल क्लास में उनके परिचित छात्र ज़रूर रहते थे। इस कारण नए-पुराने चेहरों का बदलना स्वाभाविक था।

धीरेन्द्र अपनी तैयारी में इतना दृढ़ रहता कि क्लास में शिक्षक कुछ भी पूछते, तो वह पढ़ाए गए विषय से आगे बढ़कर अपना विचार भी रख

देता। उसी तरह जगमोही भी पूरी तैयारी के साथ क्लास में आती थी। ट्यूटोरियल क्लास में विद्यार्थी कम होने के कारण सामने की दो बेंचों पर ही दोनों बैठते थे। दाहिनी ओर धीरेन्द्र बैठता और बायीं ओर जगमोही। समय की समानता दोनों के रास्तों को भी जोड़ देती थी, जैसे दोनों एक ही गाड़ी पकड़ने वाले यात्री हों, जो अपने-अपने समय पर घर से निकलते हैं। रास्ते में भले बात न हो, पर आमना-सामना तो हो ही जाता है।

कहने को लोग कहते हैं कि शरीर की पाँच इन्द्रियों में मुँह, आँख और कान समान हैं, पर क्या तीनों की कार्य-शक्ति एक जैसी है? मुँह में मूंगबे की मिठास से लेकर तेतैर की खटास और नीम की कड़वाहट तक का स्वाद मिलता है, जबकि आँख सामने की चीज़ें देखती है। वही आँख कभी सुंदरता देखकर आँसू बहा देती है, तो कभी मिर्च की तीखापन से आँसू निकल आता है। लेकिन कान तो बस कान हैं। उसको न दिखता है न वह स्वाद ले सकता है, बस हवा में उड़ती अच्छी-बुरी ध्वनियों को सुन सकते हैं। जिससे, जो बहरे हैं अपने ही ताल पर नाचते हैं, वैसे ही नाचता है।

इन सब बातों से धीरेन्द्र या जगमोही का क्या संबंध? दोनों कॉलेज में पढ़ते हैं, क्लास के साथी हैं, एक-दूसरे को पहचानते हैं। अठारह की उम्र दोनों पार कर चुके हैं, चाहें तो खुलकर बात कर सकते हैं, पर ऐसा नहीं करते। दोनों अपनी-अपनी सीमाओं में रहते हैं।

हाँ, दोनों एक-दूसरे के प्रश्न और उत्तर अवश्य सुनते हैं, और शिक्षक भी उन्हें ध्यान से सुनते हैं। इस तरह, दोनों के अध्ययन की गहराई धीरे-धीरे एक-दूसरे पर प्रकट होने लगी थी। कॉलेज में शिक्षक निर्धारित पाठ्यक्रम की पुस्तकों के आधार पर पढ़ाते थे, पर शिक्षक तो शिक्षक ही होते हैं। कोई उतना ही पढ़ाता है जितना सिलेबस में लिखा है, तो कोई उससे आगे बढ़कर समझाने लगता है।

ऐसे शिक्षक को इस बात से कोई मतलब नहीं रहता कि दाल में स्वाद है या नमक मिट गया। उन्हें तो सिलेबस की नहीं, दुनिया भर की किताबों की चिंता रहती है। शिक्षक का अनुसरण ही विद्यार्थी करता है, और वही समझता है जो शिक्षक समझाता है। क्योंकि शिक्षक जितना युग-स्रष्टा होता

है, उतना ही युग-द्रष्टा भी होता है। इसलिए विद्यार्थी को जीवन की राह भी वही मिलती है, जो शिक्षक दिखाता है।

शिक्षक अपने अनुभव से यह सीख चुके होते हैं कि ट्यूटोरियल क्लास में बेवजह दिमाग पर बोझ डालना, यानी हर छात्र से एक-एक कर प्रश्न पूछना, उपयोगी नहीं है। बेहतर यही है कि पैंतालीस मिनट की घंटी में दस मिनट हाजिरी और तैयारी में चले जाएँ, और शेष पैंतीस मिनट का समय संतुलित चर्चा में लगाया जाए। इससे धीरेन्द्र और जगमोही, दोनों को लाभ मिलता है। कहा भी जाता है कि अभ्यास करते-करते जड़ बुद्धि भी तेज हो जाती है। मनुष्य, आखिर मनुष्य ही है- अन्न खाने और पानी पीने वाला प्राणी। घोड़ा घास खाकर हिहियाता है, तो मनुष्य में जो विशेषता है, वह है सारे जीव-जन्तु से अतिरिक्त- हँसने की।

ट्यूटोरियल क्लास में शिक्षक प्रश्नकर्ता होते थे और धीरेन्द्र व जगमोही उत्तर देने वाले। बाकी विद्यार्थी शिक्षक के भाषण और छात्रों के उत्तरों के श्रोता होते थे। निर्णय करने वाला कोई स्पष्ट नहीं होता था। आखिर कौन बिना कारण किसी पक्ष में खड़ा होगा? कौन प्रश्नकर्ता से उलझेगा या उत्तरदाता के पक्ष में बोलेगा? सभी अपनी सुविधा से जीना चाहते हैं, और जब अवसर मिलता है, तो कोई क्यों छोड़े?

धीरेन्द्र और जगमोही के उत्तरों में वही प्रवृत्ति दिखाई देती थी, जो शिक्षक के भाषण में होती थी- पाठ्यक्रम की सीमा से आगे निकल जाना। यह देखकर शिक्षक दोनों को सावधान करते कि परीक्षा में इस तरह उत्तर न लिखें, बल्कि विषय के दायरे में रहें। और इसी सलाह के साथ ट्यूटोरियल क्लास समाप्त हो जाती थी।

दुनिया में प्रेम का अपना ही रंग-रूप होता है। सात अरब लोगों में जगमोही की जैसी छवि धीरेन्द्र को दिखाई दे रही थी, वैसी छवि जगमोही को धीरेन्द्र में नहीं दिख रही थी। दोनों की अपनी-अपनी दृष्टि और अपना नजरिया था। लेकिन ट्यूटोरियल क्लास के अध्ययन ने दोनों को एक नई दिशा दी- अध्ययनशीलता की। उसी से एक-दूसरे के बीच, भिन्न दृष्टि होते हुए भी, एक सूक्ष्म आकर्षण बनता जा रहा था।

आकर्षण का भी अपना स्वभाव होता है। कोई आकर्षण ऐसा होता है, जिसमें विकर्षण भी समान रूप से मौजूद रहता है। और कोई ऐसा, जिसमें विकर्षण की मात्रा कम होने से वह हल्का, लेकिन स्थायी लगता है। जब आकर्षण की तीव्रता अधिक हो जाती है, तो वह स्वयं को ही पहचान बना लेता है। विकर्षण भी वैसा ही होता है- जहाँ वह अधिक होता है, वहाँ आकर्षण को दबा देता है।

लोहा जैसी निर्जीव धातु में भी चुंबकीय आकर्षण इतना प्रभावी होता है कि वह अपने समान भस्मिलोह को अपनी ओर खींचकर अपने गुण से भर देता है, चाहे वह प्रभाव कुछ समय के लिए ही क्यों न हो। खैर, जैसी प्रकृति होती है, वैसा ही परिणाम होता है। जैसे अजगर साँप अपनी तिरछी निगाह और फुफकार से दूसरे साँप को धीरे-धीरे अपने वश में कर लेता है, वैसे ही जीवन में भी कोई न कोई आकर्षण अनायास पैदा हो ही जाता है।

पर इन सब बातों से धीरेन्द्र और जगमोही का क्या संबंध? अभी तो जीवन की पहली सीढ़ी पर भी दोनों में से कोई पूरी तरह नहीं चढ़ा है, फिर जीवन के ऊँचे पड़ाव की समझ कहाँ से आएगी।

धीरेन्द्र के मन में जगमोही के प्रति जिज्ञासा जागी, और जगमोही के मन में धीरेन्द्र के प्रति। एक ही विषय के विद्यार्थी होने के कारण, दोनों के मन में यह विचार भी उठा कि जब हम दोनों एक ही कॉलेज और एक ही क्लास में पढ़ते हैं, तो हमारी समझ और बुद्धि भी कुछ हद तक एक जैसी होगी। इसका अर्थ यह नहीं कि कोई दूसरे से कम या ज़्यादा है, बल्कि यह कि हर विद्यार्थी की अपनी गति और क्षमता होती है। एक ही राह के यात्रियों में भी कोई पहले मंज़िल पर पहुँचता है, कोई बाद में। कॉलेज में भी कोई प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है, कोई दूसरी में, कोई तीसरी में।

लेकिन जीवन का सच्चा विद्यार्थी अपनी यात्रा उसी स्थान से शुरू करना चाहता है जहाँ नींव मज़बूत हो। आज की नींव ही कल की इमारत बनती है। इसलिए, भविष्यवक्ता कुछ भी कहें, पर भविष्य का निर्माता वही होता है जो आज कुछ नया बोता है। आज बोया गया वृक्ष ही कल फल देता है। धीरेन्द्र और जगमोही, दोनों एक-दूसरे के जीवन-परिचय को गुप्त रूप

से समझने की कोशिश करने लगे। लेकिन उनकी यह जिज्ञासा एक मर्यादित सीमा के भीतर थी, ताकि कहीं कोई सीमा-लाँघन न हो जाए और लोग हँसी न उड़ाएँ। पटना में न तो धीरेन्द्र के बहुत परिचित लोग थे, न ही जगमोही के। वैसे कॉलेज या हाई स्कूल जैसे स्थान सैकड़ों-हज़ारों अपरिचित चेहरों को पहचानने का अवसर देते हैं, लेकिन वहाँ जान-पहचान बनाने की जगह नहीं होती। वहाँ तो अध्ययन का ही वातावरण होता है, जिसकी अपनी सीमा और सरहद होती है। इसलिए कोई भी व्यक्ति अपनी सीमा के भीतर रहते हुए ही पार जाने की कोशिश करता है, और वही उसकी सफलता का माप बन जाती है।

धीरेन्द्र के जीवन में पिता-पुत्र का संबंध भी ऐसी ही एक मर्यादित सीमा में बँधा हुआ था। पिता जीबेन्द्र और पुत्र धीरेन्द्र, दोनों अपनी-अपनी भूमिकाओं में थे। जीवन के अनेक कार्यों और जिम्मेदारियों के बीच उनका संबंध सरल और संतुलित था। वर्तमान स्थिति यह थी कि जितना खर्च एक विद्यार्थी के लिए आवश्यक होता है, उतना धीरेन्द्र खुद संभाल लेता था, और जीबेन्द्र भी अपने पुत्र को उतनी ही स्वतंत्रता और खर्च देने में संतुलित थे।

धीरेन्द्र ने सिलेबस के अनुसार कोर्स की ज़रूरी किताबें पिताजी के पैसे से खरीद ली थीं। लेकिन जब शिक्षक के मुँह से अन्य पुस्तकों का नाम सुना, तो मन उत्साहित हो उठा। इसी जिज्ञासा के चलते वह प्रतिदिन एक घंटा कॉलेज के रीडिंग रूम में बैठकर नई-नई किताबें पढ़ने लगा। कॉलेज की लाइब्रेरी, रीडिंग रूम और कार्यालय एक ही इमारत के हिस्से थे। तीनों कमरों के बीच काँच की दीवारें थीं, जिनसे एक कमरे से दूसरे कमरे का दृश्य साफ दिखाई देता था।

धीरेन्द्र रीडिंग रूम में कुर्सी पर बैठा हुआ था। टेबल पर तीन-चार किताबें रखी थीं और वह एक पुस्तक को उलट-पलट कर देख रहा था। उसी समय जगमोही ने पीछे की शेल्फ में पुरानी किताबें रखीं और नई किताबें खोजने के लिए अलमारी की ओर बढ़ी। पुस्तकालय की हर किताब एक रजिस्टर में दर्ज की जाती थी।

रीडिंग रूम का कमरा चौड़ा और खुला था। वहाँ दर्जनों अलमारियाँ

किताबों से सजी हुई थीं। हर विषय की एक-दो अलमारियाँ अलग-अलग रखी गई थीं। बीच में कुर्सियाँ और टेबलें लगी थीं, ताकि बिना किसी औपचारिकता के भी बैठने की जगह अपने-आप तय हो जाती थी। कुछ लोग अलमारियों के पास बैठकर पढ़ना पसंद करते थे। धीरेन्द्र भी अपने समय के अनुसार टेबल पर किताबें रखकर, कॉपी में नोट्स बनाते हुए, बार-बार पन्ने पलटता हुआ पढ़ रहा था।

उसी समय जगमोही पास की अलमारी में किताब खोज रही थी। पुस्तकालय और रीडिंग रूम की अलमारियाँ बस हाथ की दूरी पर थीं। एक ओर जगमोही किताबें निकाल रही थी, और दूसरी ओर धीरेन्द्र दो अलमारियों से किताबें चुनकर टेबल पर सजा कर रख रहा था।

दोनों अलमारियों के बीच की जगह से जगमोही को धीरेन्द्र साफ़ दिखाई दे रहा था। तभी पुस्तकालय की कुछ किताबें उलट-पलट हो जाने के कारण कर्मचारियों के बीच हल्की-सी कहासुनी शुरू हो गई। पर किताबें तो आखिर किताबें ही हैं- आग में जलने वाली, पानी में गलने वाली, दीमक और दीवार दोनों चाट जाने वाली। वहाँ थोड़ी देर तक बहस चली।

खैर, जिसे माता-पिता जन्म देते हैं, वह तो माता-पिता को भी भूल जाता है। यह तो कॉलेज की किताबें हैं, इनका कौन माता-पिता? फिर कौन यूँ ही अलमारियाँ उलटता-फेरता फिरे?

दीवारों के बीच लगे काँच के कारण दृश्य दोनों ओर से स्पष्ट दिखाई देता था। जैसे जगमोही पुस्तकालय के भीतर थी, वैसे ही धीरेन्द्र रीडिंग रूम में था और दोनों एक-दूसरे को देख रहे थे।

अब तक की जानकारी के अनुसार, जगमोही धीरेन्द्र को अपने मामा गाँव का लड़का समझती थी और धीरेन्द्र भी उसे अपने गाँव की भगिनी मानता था। लेकिन अब तक उनके बीच एक शब्द की भी बातचीत नहीं हुई थी।

पुस्तकालय के दफ्तर में उठी कहासुनी से सबका ध्यान उस ओर गया और उसी क्षण जगमोही का ध्यान धीरेन्द्र की ओर चला गया। शुरुआत में जब उसने धीरेन्द्र की टेबल पर रखी मोटी-मोटी किताबें देखीं, तो वह हल्का-

सा सकपका गई, पर भीतर आत्मविश्वास की एक लहर भी उठी। आखिर धीरेन्द्र उसके मामा गाँव के ही तो हैं। चाहे रिश्ता नाना के पक्ष से हो, मामा के हो या भाई के, पर अपनापन तो था ही।

अगर ऐसा भी नहीं हो, तब भी एक कॉलेज, एक क्लास और एक ही विषय के साथी तो दोनों हैं ही। जब विषय एक है, तो जीवन की गतिविधियों में भी कुछ समानता होना स्वाभाविक है। जैसे कोयला खदान के मज़दूर अपने को 'लेबर क्लास' कहकर एक साथ बैठते और उठते हैं, जैसे खेत में धान रोपने वाली स्त्रियाँ अपने को 'धानरोपनिया' कहती हैं, वैसे ही यहाँ भी पुरुष और स्त्री का भेद कहाँ रह जाता है।

एक ओर पारिवारिक रिश्ता है, दूसरी ओर कॉलेज का। साथ ही, दोनों की उम्र भी लगभग समान है। फिर बातचीत करने में बाधा कैसी?

चोरी-छिपे वाला प्रेम तो असली प्रेम नहीं होता। वह तो चोरों की क्रिया है। प्रेम तो सार्वभौमिक होता है: विचार का प्रेम, व्यवहार का प्रेम, जीवन जीने का प्रेम। जो सच्चा प्रेमी होता है, वह किसी भावना को छिपाएगा क्यों?

दो अलमारियों के बीच के रास्ते से गुजरते हुए शीशे की दीवार के पार, जगमोही धीरेन्द्र की तरह व्यवहार करने लगी। धीरेन्द्र जैसे किताब में आँखें गड़ाकर, समुद्री हीरे की तरह पंक्तियाँ खोज-खोजकर कॉपी में नोट कर रहा था, वैसे ही जगमोही ने उसकी हू-ब-हू छवि अपने मन में उतारनी शुरू कर दी। लगभग दस मिनट तक वह उसी तरह धीरेन्द्र की छवि अपने मन में फोटोग्राफ करती रही।

संयोग से पाँच बज गए। अब सब कुछ बंद होने का समय था। जगमोही को दो किताबें लेनी थीं, जिनका रिकॉर्ड पहले ही बन चुका था। धीरेन्द्र ने किताबें अलमारी में रखीं, कॉपी उठाई और बाहर निकल आया। वैसे भी अब कॉलेज में भीड़ कम हो गई थी। बस दो कॉलेज स्टाफ और चार-पाँच विद्यार्थी शेष रह गए थे।

पुस्तकालय की सीढ़ियों से नीचे उतरते समय जैसे ही धीरेन्द्र की

नज़र फिसलकर जगमोही पर पड़ी, वैसे ही जगमोही की नज़र भी उसकी ओर खिंच गई। दोनों के मन में अपने-अपने नैतिक अनुशासन के विचार एक साथ दौड़ने लगे। इन्हीं उलझे भावों में दोनों बिना कुछ बोले कॉलेज के अंतिम गेट तक पहुँच गए।

गेट चौबटिया स्थल पर था, इसलिए किस दिशा में कौन जाएगा, यह दोनों को स्पष्ट था। मौसम भी ऐसा नहीं था कि बातचीत में कोई बाधा हो। पर दोनों ग्रामीण परिवेश की उपज थे–यानी गाँव में पले-बढ़े–इसलिए उनके भीतर गँवई संकोच भी मौजूद था। यही कारण था कि उनके बीच एक हल्का-सा पर्दा बना हुआ था। जगमोही समझ नहीं पा रही थी कि धीरेन्द्र से किस रूप में बात करे: भाई की तरह या मित्र की तरह। और धीरेन्द्र भी यह तय नहीं कर पा रहा था कि जगमोही को उम्र में अपने से छोटी माने या बड़ी। यही संकोच दोनों के बीच चुप्पी की दीवार बन गया था।

धीरेन्द्र के मन में विचार चलने लगा कि जब हम दोनों एक ही कॉलेज के एक ही क्लास में पढ़ते हैं, तो यह मान लेना कि जगमोही की उम्र मुझसे कम होगी, यह तो बचकाना सोच है। जितना समय मुझे 'अ' और 'आ' से अब तक पहुँचने में लगा, उतना ही समय तो जगमोही को भी लगा होगा। फिर छोटा किसे मानें और बड़ा किसे? अगर कॉलेज में हम दोनों की क्लास आगे-पीछे होती, तो तुलना की कोई ठोस सीमा मिलती- जैसे किसी खेत की नाप में पुराना सर्वेक्षण बिंदु मिलने पर अमीन को खेत की मेड़ बाँधने में आसानी होती है।

धीरेन्द्र के मन में एक और विचार आया। जिस गाँव में बाढ़ या भूकंप के कारण सीमाओं की पहचान मिट जाती है, वहाँ नई सीमा तय करने के लिए अक्सर दूसरे गाँव की सरहद का सहारा लिया जाता है।

उधर, जगमोही ने जब अपने बचपन की ओर नज़र डाली, तो उसे साफ़ याद आया कि जब वह पाँच साल की थी, तभी बाबा ने लोअर प्राइमरी स्कूल में उसका नाम लिखवा दिया था। तब से न उसने कभी फेल किया, न किसी कक्षा को छोड़कर आगे बढ़ी। उसके मन में आया कि शायद धीरेन्द्र

के साथ भी ऐसा ही हुआ होगा। फिर उसे यह भी ध्यान आया कि मातृक का संबंध भी है। अगर रिश्ता नाना के घराने का निकले, तो क्या भाई-बहन की तरह बात करना ठीक होगा? और अगर माँ को पता चल गया, तो वे तो नाराज़ हो ही जाएँगी।

धीरेन्द्र के मन में भी यह बात आई कि अनजान बने रहना ही बेहतर है। जब बात-चीत के बाद सही परिचय होगा, तब अपने विचार को सुधार लिया जाएगा। उसी तरह, जगमोही का मन भी धीरे-धीरे उसी दिशा में बढ़ने लगा। अब दोनों के बीच बात करने का अनुकूल माहौल बन चुका था। सोच यही थी कि जब साथ-साथ पढ़ते हैं, तो बोलने-बतियाने में कौन-सी बड़ी रुकावट है?

गेट पर पहुँचकर धीरेन्द्र ने जगमोही की ओर देखा। उसी समय जगमोही भी धीरेन्द्र की ओर देख रही थी। दोनों की नज़रें मिलीं। नज़र मिलते ही दोनों के चेहरे पर हल्की मुस्कान खिल उठी, जैसे पत्ते या फूल हिलते ही अपनी सुगंध बिखेर देते हैं।

तभी जगमोही बोली-

“डेरा कहाँ रखा है?”

धीरेन्द्र ने उत्तर दिया-

“यहीं से करीब सौ मीटर पर।”

जगमोही ने धीरेन्द्र की बात सुनकर घड़ी देखी। पाँच बजकर पाँच मिनट हो चुके थे। उसने मन-ही-मन अपने समय की गणना की और समझ गई कि उसके पास अभी आधा घंटा खाली है। उसके समय की एक निश्चित सीमा थी, क्योंकि उसके पिता रामलखन सचिवालय में कार्यरत थे और रोज़ाना सवा छह बजे तक डेरे पर लौटते हैं। पिता के आने से पहले ही जगमोही कॉलेज का सारा काम निपटाकर डेरापर पहुँच जाती थी। इस बीच उसकी माँ भी बाज़ार का काम करके लौट आती थीं।

जगमोही बोली-

“रास्ते में चलते-चलते अपना डेरा दिखा दीजिए। फिर किसी दिन

समय मिलने पर आगे की कुछ बातें करेंगे।"

जगमोही की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि धीरेन्द्र बीच में बोल पड़ा- "चलिए, साथ-साथ चलते हैं। आप भी अपना डेरा बता दीजिए।"

सौ मीटर की दूरी पर धीरेन्द्र का डेरा था। बात करते-करते दोनों वहाँ पहुँच गए। डेरा के पास पहुँचकर धीरेन्द्र कुछ असमंजस में पड़ गया। वह सोचने लगा- यह शहर है, यहाँ हर तरह की बातें और प्रतियोगिताएँ होती हैं। लेकिन अगले ही क्षण उसके मन में यह विचार आया कि अभी हम विद्यार्थी जीवन में हैं, इसलिए सोचना भी वर्तमान के अनुसार ही चाहिए, न कि भविष्य के बोझ से।

धीरेन्द्र ने कहा-

"डेरे पर चाय तो नहीं बनाता, लेकिन नाश्ते की थोड़ी व्यवस्था रहती है। चलिए, पहले कुछ खा लेते हैं, फिर आप जाइएगा।"

दोनों के मन में यह बात स्पष्ट थी कि कॉलेज से लेकर गाँव तक उनका एक सामाजिक संबंध है। फिर खाने-पीने में हर्ज ही क्या है।

जगमोही मुस्कराई और बोली-

"डेरा तो भीतर जाकर देख लेंगे, लेकिन नाश्ते नहीं करूंगी। ज़्यादा से ज़्यादा एक ग्लास पानी पी लूँगी।"

दोनों कमरे में पहुँचे। कमरा छोटा था, कुर्सी नहीं थी। उसी छोटे से कमरे में धीरेन्द्र का पूरा जीवन सिमटा हुआ था।

एक ही चौकी पर बैठते हुए धीरेन्द्र बोला-

"गाँव में इस बार आम बहुत फले हैं। अमैया की छुट्टी में जाना तय है।"

जगमोही ने उत्तर दिया-

"आपका घर प्रेमनगर में है, और मेरा भी...।"

"मेरा भी" कहकर वह रुक गई और चुप हो गई।

अपने गाँव का नाम सुनकर धीरेन्द्र ने पूछा- "आपका मातृक भी तो

प्रेमनगर ही है?”

जगमोही बोली-

“आज बस यहीं तक रहने दीजिए। पंद्रह जून से अमैया की छुट्टियाँ शुरू हैं। माँ मायके जाएँगी, और मैं बीस जून को उन्हीं के साथ आपके गाँव पहुँच जाऊँगी।”

धीरेन्द्र मुस्कुराया और बोला-

“मेरे गाँव पहुँचेंगी या अपने मातृक?”

जगमोही ने हल्के स्वर में कहा-

“जैसा आप समझें...।” ❑

2

धीरेन्द्र के डेरे से निकलकर जगमोही सड़क पर आई और बैटरी इंजन वाले रिक्शे में बैठकर अपने डेरे की ओर चल पड़ी। वहाँ से उसका डेरा लगभग दो किलोमीटर दूर था। जैसे मौसम के बदलते ही धरती में पड़ा बीज अचानक जीवन ग्रहण कर सक्रिय हो उठता है, वैसे ही मनुष्य के जीवन में भी परिवर्तन का समय आता है। विद्यार्थी जीवन के अंतिम मोड़ पर जहाँ जगमोही पहुँच चुकी थी, वहीं धीरेन्द्र भी उसी पड़ाव पर था। एक साल बाद दोनों को नए जीवन में प्रवेश करना था।

धीरेन्द्र ने अपने लक्ष्य को तय कर लिया था कि बी.ए. के बाद वह अपने ढंग से जीवन की राह बनाएगा, लेकिन जगमोही अभी भी असमंजस में थी। उम्र के लिहाज से वह अब बालिग हो चुकी थी। नाबालिग अवस्था तक संतान की पूरी ज़िम्मेदारी माता-पिता की होती है, लेकिन जब बेटे-बेटियाँ बालिग हो जाते हैं, तो जीवन के निर्णायक प्रश्न सामने आ खड़े होते हैं।

रिक्शे पर बैठते हुए जगमोही ने धीरेन्द्र से कहा-

“फिर भेंट होगी।”

धीरेन्द्र ने मुस्कराकर उत्तर दिया-

“ज़रूर, ज़रूर भेंट होगी।”

इंजन वाले रिक्शे के लिए दो किलोमीटर की दूरी कोई मायने नहीं रखती थी, इसलिए रास्ते भर जगमोही के मन में भविष्य को लेकर कोई स्पष्ट विचार नहीं आया। लेकिन उसके भीतर एक अनजाना विरह-भाव बार-बार सिर उठाता रहा। डेरे के सामने पहुँचकर उसने रिक्शेवाले को किराया दिया, कमरे में जाकर किताबें रखीं और थकावट में बिस्तर पर लेट गई।

जैसे समुद्र में ज्वार उठता है, वैसे ही उसके मन के समुद्र में भी विचारों

की लहरें उठने लगीं। अनेक भाव एक साथ उमड़ पड़े। बी.ए. के तीसरे वर्ष के चार महीने बीत चुके हैं, और अब सिर्फ आठ महीने बाद कॉलेज से विदा लेनी है। उम्र भी उन्नीस-बीस वर्ष की हो चली है। अब उसकी माँ को विवाह की चिंता सताने लगी थी, और पिता भी उसी सोच में डूबे रहते थे।

दहेज का जो दानवी रूप समाज में बन चुका है, उसने सबको परेशान कर रखा है। पिता को चिंता है कि क्या वे अपनी मनपसंद जगह पर जगमोही का विवाह कर पाएँगे या नहीं। आखिर एक दफ़्तर के मामूली क्लर्क की आय ही कितनी होती है। अब तो इंसान भी माल-जाल की तरह एक खरीद-फरोख्त का हिस्सा बन गया है।

जगमोही किसी एक विषय के एक पहलू पर मन बनाती, तो तुरंत ही दूसरा विचार उठ खड़ा होता। उसका मन जैसे किसी एक दिशा में ठहर ही नहीं पा रहा था। अंततः उसने अपने विचारों को थामकर बिस्तर से उठी और माँ के पास पहुँची। सुवासिनी अभी-अभी बाज़ार से सामान खरीदकर लौटी थीं। बेटी को देखते ही उनके चेहरे का भाव बदल गया। जैसे कोई बादलों से भरा आसमान देखकर मौसम के बदलने का अंदेशा लगा ले, वैसे ही जगमोही को देखकर सुवासिनी को कुछ अनकहा-सा आभास हुआ।

पर किसी भी रोग की तरह, मन की दशा भी तब तक पूरी तरह समझ में नहीं आती जब तक उसे खुलकर व्यक्त न किया जाए। कुछ बाहरी रोग तो देख कर ही पहचाने जा सकते हैं, लेकिन भीतर की बेचैनी तभी समझी जा सकती है जब कोई बात दिल से कही जाए।

अधखिले फूल-सी मुस्कराती हुई जगमोही ने कहा-

"माँ, मामा गाँव का एक लड़का मेरे साथ पढ़ता है।"

मायके का नाम सुनते ही सुवासिनी के मन में जैसे जलधारा बह निकली। मुस्कराते हुए उन्होंने पूछा-

"कद-काठी कैसी है?"

'कद-काठी' पूछने का मतलब यह था कि वे मन ही मन उस लड़के की छवि देखना चाहती थीं। मायके के जो नए लोग हैं, वे तो सुवासिनी के

मायके छोड़ने के बाद ही पैदा हुए होंगे, लेकिन चेहरा-मोहरा देखकर परिवार की पहचान हो जाती है। थोड़ी देर सोचने के बाद उन्होंने आगे पूछा-

"नाम-ठिकाना पूछा?"

जगमोही ने खुद को सँभालते हुए कहा-

"रास्ते में मुलाक़ात हुई थी, नाम-ठिकाना पूछने का मौका नहीं मिला। पर इतना जान पाई कि उनका नाम धीरेन्द्र है।"

'धीरेन्द्र' नाम सुनकर सुवासिनी ने मन ही मन अपने मायके के दियाद-वादी रिश्तों के बारे में सोचना शुरू किया, पर कोई स्पष्ट स्मृति उभरकर नहीं आई। उन्होंने फिर पूछा-

"कुछ बातचीत भी हुई?"

जगमोही बोली-

"बहुत ज़्यादा नहीं, लेकिन वे भी इतना ज़रूर समझ गए कि मैं भी उन्हीं के गाँव की रहनेवाली लड़की हूँ।"

धीरेन्द्र का गाँव प्रेमनगर से एक कोस दूर, जगमोही का गाँव रामपुर है। दोनों गाँव एक ही राज्य और ज़िले में होने के बावजूद अपनी प्रकृति में अलग-अलग नज़र आते हैं। इसके पीछे कई कारण हैं। जैसे, यदि दो गाँवों की भौगोलिक बनावट में अंतर हो, तो उनकी आर्थिक स्थिति भी भिन्न हो सकती है। इसी तरह, राजनीतिक दृष्टिकोण में भी फर्क उभर आता है। राजनीतिक विचारधाराएँ भी भूगोल की तरह विविध होती हैं, और इन्हीं के आधार पर हर गाँव की सामाजिक संरचना अपना अलग रूप ले लेती है।

डेरा पहुँचते ही रामलखन ने कपड़े बदले, टंकी पर जाकर हाथ-पैर धोए और फिर बैठक में आकर बैठ गए। इस बीच, जगमोही ने चाय बनाकर पहले से तैयार कर दी थी। दफ़्तर से लौटने के बाद रामलखन रोज़ की तरह तुरंत चाय पीते थे, क्योंकि ऑफिस छोड़ने से पहले वे कैंटीन में हल्का नाश्ता कर लेते थे। दफ़्तर के कर्मचारियों को यह सुविधा थी कि वे समय के अनुसार नाश्ता या भोजन प्राप्त कर सकें। रोज़ की तरह पाँचों सदस्य–रामलखन, सुवासिनी और तीनों बेटियाँ, जिनमें जगमोही सबसे बड़ी थी–एक साथ

बैठकर चाय पीने लगे।

रामलखन अपने दफ़्तर के साथी कन्हैया के साथ रोज़ की तरह पैदल ही लौटे थे। दोनों का यह नियमित सिलसिला था: साथ-साथ आना-जाना और रास्ते में अपने-अपने घर-परिवार की बातें करना। उस दिन भी दफ़्तर से निकलते समय कन्हैया ने अपने मन की बात कह दी-

“रामलखन भाई, तनख़्वाह से घर चलाना अब बोझ लगने लगा है। समय पर वेतन न मिले तो हर महीने किसी न किसी से उधार लेना पड़ता है।"

कन्हैया की बात सुनकर रामलखन थोड़ी देर के लिए चुप हो गए। लेकिन तुरंत ही उनके मन में यह विचार आया कि केवल कह देने या रोने से समस्याएँ हल नहीं होतीं। इसलिए उन्होंने बात को समझाते हुए कहा-

“कन्हैया भाई, यह भी तो देखिए कि आप और रामानंद एक ही पद पर हैं, और दोनों की तनख़्वाह भी बराबर है। फिर भी रामानंद का रहन-सहन इतना ऊँचा कैसे है?”

रामलखन के इस प्रश्न पर कन्हैया सोच में पड़ गए। तब तक दोनों अपने-अपने डेरे पर पहुँच चुके थे। अक्सर दोस्तों के बीच कुछ प्रश्न अधूरे रह जाते हैं। और यही आशा रहती है कि अगली मुलाक़ात में पिछली अधूरी बातें पूरी की जाएँगी।

घर पहुँचकर जब रामलखन ने चाय का प्याला हाथ में लिया, तो कन्हैया की बात अनायास ही उनके मन में गूँजने लगी। सोचते-सोचते उन्होंने अपने ही परिवार की स्थिति पर नज़र डाली, और मन भारी हो उठा। तीन बेटियाँ हैं; न कोई दूसरी आमदनी है, न भविष्य की कोई ठोस उम्मीद। बेटा नहीं है। गाँव में जो पैतृक संपत्ति है, वह भाइयों में बाँट दी गई है। फिर भी, सरकारी नौकरी में होने के कारण समाज में कुछ इज़्ज़त ज़रूर बन गई है।

गाँव में अब भी बेटों और बेटियों की शिक्षा के बीच दूरी बनी हुई है। ऐसे माहौल में जब उन्होंने बड़ी बेटी को बी.ए. तक पढ़ाया है, तो अब यह उनका नैतिक कर्तव्य बन गया है कि छोटी दोनों बेटियों को भी उतनी ही

शिक्षा दिलाएँ। वरना परिवार और समाज, दोनों जगह ताने सुनने पड़ेंगे।

लेकिन अगर तीनों की पढ़ाई एक साथ जारी रही, तो वही स्थिति होगी, जैसी अभी है। महीने के अंत तक जेब खाली हो जाती है, और किसी न किसी से उधार लेना पड़ता है। ऊपर से नौकरी का आधा समय बीत चुका है। अब तक तो जीवन किसी तरह चलता आया है, लेकिन आगे की राह मुश्किल लगती है। फिलहाल बड़ी बेटी, जगमोही, कॉलेज में है और छोटी दोनों बेटियाँ हाई स्कूल में पढ़ रही हैं। साल भर बाद जब जगमोही कॉलेज से निकलेगी, तो दोनों छोटी बेटियाँ कॉलेज में प्रवेश लेंगी। उसी समय विवाह की चिंता भी सिर पर आ खड़ी होगी।

परिवार की इन चिंताओं ने रामलखन का मन इतना भारी कर दिया कि आज उनके चेहरे की मुस्कान सामान्य दिनों की तुलना में फीकी पड़ गई। दूसरी ओर, सुवासिनी का मन इसके ठीक विपरीत था। मायके की चर्चा सुनते ही उनकी सुषुप्त स्मृतियाँ जाग उठीं और चेहरे पर एक अलग ही चमक आ गई। वे अपने मायके की बातें करने को आतुर थीं।

पति के उदास चेहरे और अपने भीतर उमड़ती जिज्ञासा को देख सुवासिनी ने पूछा-

"मन इतना बुझा-बुझा क्यों लग रहा है?"

रामलखन को पत्नी की बात सुनते ही खीज महसूस हुई। लेकिन तभी उन्हें याद आया कि सुवासिनी अशिक्षित हैं, इसलिए उनकी बातों का अर्थ अक्सर सतही लगता है। भीतर ही भीतर सोचते हुए उन्होंने अपनी झुँझलाहट को दबा लिया। उन्हें लगा कि जब वे गंभीर समस्या के समाधान की राह खोज रहे हैं–जिससे परिवार उठ सके और आगे बढ़े–उसी समय पत्नी की बातें उनकी गंभीरता को भंग कर देती हैं।

रामलखन के लिए इस समय किसी भी पारिवारिक विषय पर बातचीत करना उचित नहीं था। उन्हें लगता था कि जैसे वे स्वयं कभी पत्नी के साथ मिलकर परिवार को ऊँचाई तक पहुँचाने की योजना नहीं बना सके, वैसे ही अधिकांश परिवारों में भी यही स्थिति रही होगी। समाज में एक स्थायी धारणा बन चुकी है कि पुरुष बाहर से कमाकर लाता है और स्त्री घर

के भीतर खाना-पीना और गृहस्थी सँभालती है। इस कृत्रिम विभाजन ने पुरुष को घर की वास्तविक समझ से दूर कर दिया है, और स्त्री को आर्थिक सहभागिता से वंचित रखा है।

सवाल यह है कि जब तक पुरुष और स्त्री का संयोग और सहयोग बराबर न होगा, तब तक कोई भी परिवार वास्तव में आगे कैसे बढ़ सकता है?

परिवार के भीतर, यानी पति-पत्नी के संबंधों को लेकर, रामलखन जितनी गहराई से सोचते गए, उतने ही नए विचार जन्म लेने लगे। इसी के साथ उनके मन की उलझन भी बढ़ती चली गई। दोनों की जीवन-यात्रा में जैसे एक महीन उलझन-सी उतर आई थी, जिसने उनके बीच की पारदर्शिता को ढँक दिया था। शायद यही कारण था कि अब उनके चेहरे की चमक वैसी नहीं रह गई थी।

रंग भी अजीब चीज है, कभी सतरंगी होता है, कभी फीका पड़ जाता है, और कभी-कभी तो अपनी पहचान तक खो बैठता है।

तभी रामलखन के मन में यह विचार उठा कि परिवार को समझना और उसे सही दिशा में आगे बढ़ाना बच्चों का खेल नहीं है। इसलिए सबसे पहले उन्हें स्वयं कुछ समय लेकर सोच-विचार करना चाहिए और परिवार की स्थिति को अच्छी तरह परखना चाहिए। यही उचित रहेगा कि परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपनी-अपनी दिशा में–अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप–सोचने का अवसर मिले, और वे स्वयं भी ठहरकर विचार करें।

उन्होंने सोचा, अच्छा होगा कि पत्नी से कह दूँ-

“अभी मन थोड़ा भारी है, कुछ देर आराम करना चाहता हूँ। इस बीच तुम लोग भी अपना-अपना काम देख लो।”

उन्होंने मन में विचार तो कर लिया, लेकिन बोलने से पहले ही एक और विचार ने उनके होंठों को रोक लिया। उन्हें लगा, अगर मैं कह दूँ कि "मन भारी है", तो सब यही समझेंगे कि मुझे कोई बीमारी हो गई है। फिर

डॉक्टर, वैद्य, दवाओं का सिलसिला शुरू हो जाएगा और घर में अनावश्यक हलचल मच जाएगी। जो थोड़ी-बहुत शांति बची है, वह भी समाप्त हो जाएगी।

इसलिए उन्होंने सोचा कि बेहतर होगा कुछ झूठा ही कह दिया जाए, जैसे-

“ऑफिस की एक ज़रूरी फाइल अधूरी रह गई है।"

रामलखन ने मन ही मन तय कर लिया कि इस छोटे-से झूठ से स्थिति संभल सकती है। उन्होंने कहा-

“अब तो ऐसा ज़माना आ गया है कि ऑफिस की फाइलें सिर्फ फाइलें नहीं रहीं, वे फाइलों के भीतर की फाइलें बन गई हैं। ऊपर से अफसर का आदेश कभी पक्ष में आता है, तो अगले ही दिन उसका उल्टा निर्देश। एक ही फाइल को महीनों तक रगड़ते रहते हैं, फिर भी वह अधूरी ही रह जाती है।”

ऑफिस का नाम सुनते ही सुवासिनी और तीनों बेटियाँ चुप हो गईं और रामलखन को आराम करने का अवसर मिल गया।

परंतु स्थिति वैसी नहीं थी जैसी अदालत में होती है, जहाँ किसी की जमानत या तो तुरंत मिल जाती है या फिर महीनों बाद। यहाँ रामलखन को जमानत तो मिल गई, लेकिन उनका मन अभी भी बेचैन था।

दरअसल, घर में तीन अलग-अलग मानसिक प्रवाह एक साथ सक्रिय थे। रामलखन अपने व्यावहारिक चिंतन में उलझे थे, लेकिन उनकी सोच से अधिक प्रभावशाली थी सुवासिनी के मन में जागी मायके की जिज्ञासा और जगमोही के मन में धीरेन्द्र की स्मृति। घर की यह तिहरी उलझन- पहली, सुवासिनी की मायके से जुड़ी स्मृतियाँ; दूसरी, जगमोही की प्रेम-भावना; और तीसरी, रामलखन की ससुराल से संबंधित चिंता, मिलकर घर के वातावरण को विचारों से भारी बना रही थी।

यहाँ विचार का केंद्र परिवार है, पर ये केवल पारिवारिक चिंतन नहीं हैं, बल्कि व्यक्ति-विशेष के भीतर उठते बहुरंगी विचारों की परतें हैं। जब

मन एक साथ दो, तीन या चार दिशाओं में सोचने लगता है, तब निर्णय लेना कठिन हो जाता है। और अगर निर्णय होता भी है, तो उसके गलत होने की संभावना बनी रहती है। यह समस्या केवल आम लोगों तक सीमित नहीं है, बल्कि उच्च पदों पर बैठे लोग भी इससे अछूते नहीं हैं। विचारों का संतुलन जब बिगड़ता है, तो निर्णय या तो अधूरे रह जाते हैं या विपरीत प्रभाव डालते हैं।

द्वापर युग में भी ऐसा ही हुआ था। जब महाभारत युद्ध की संभावना बनी, तब दोनों पक्षों में कई महान योद्धा थे। एक ओर स्वयं कृष्ण थे, जिनके साथ अर्जुन, अभिमन्यु और बर्बरी जैसे प्रमुख योद्धा थे। कृष्ण ने जब गंभीरता से विचार किया, तो उन्हें अर्जुन और अभिमन्यु तो एक समान विचारधारा वाले लगे, परंतु बर्बरी की दृष्टि कुछ भिन्न प्रतीत हुई।

कृष्ण के मन में शंका उठी कि यदि पाण्डवों और कौरवों के बीच युद्ध हुआ, और इसी दौरान अपने ही पक्ष में वैचारिक मतभेद उभर आए, तो जीत की आशा रखना मूर्खता होगी। लेकिन यह भी प्रश्न था कि बर्बरी मानेंगे या नहीं।

मनुष्य भी वही मानता है, जो उसके परिवेश की हवा में घुला होता है, उसी से वह प्रभावित होता है। यही सोचकर कृष्ण ने रणकौशल समिति में अंतिम निर्णय लिया कि बर्बरी को युद्ध में भाग लेने से अलग रखा जाए।

लेकिन बर्बरी, जो अपने प्राण तक अर्पित करने को तैयार था, उसने यह शर्त रखी कि वह युद्धभूमि में लड़ेगा नहीं, परंतु अपनी आँखों से सब कुछ देखेगा। इसलिए उसकी गरदन काटकर उसे रणभूमि के पास एक पहाड़ी पर रख दिया गया, जहाँ से बर्बरी की कटी हुई गरदन ने सम्पूर्ण महाभारत का दृश्य देखा, युद्ध की हर चाल, हर छल, और हर जीत-हार की कहानी। यही तो मनुष्य का स्वभाव है, वह देखने, सोचने और समझने से कभी नहीं रुकता, चाहे उसके पास पूरा शरीर हो या केवल दृष्टि भर बची हो।

धीरेन्द्र की चर्चा सुनते ही सुवासिनी के मन में मायके का बचपन लौट आया। स्मृतियाँ इतनी जीवंत हो उठीं कि वे स्वयं जगमोही जैसी लगने लगीं।

जीवन का स्वभाव ही कुछ ऐसा है, वह हर उम्र में कोई न कोई मनोरंजन ढूँढ़ ही लेता है। कहीं जवानी की हार-जीत ही मनोरंजन बन जाती है, तो कहीं अस्सी वर्ष का बूढ़ा आठ वर्ष के बच्चे की तरह रूठकर कह देता है-

"माँ ने भोजन नहीं दिया, तो अब घर छोड़ दूँगा, देश का सिपाही बनकर बंदूक उठाऊँगा और सीमा पर चला जाऊँगा।"

दस वर्षों से सुवासिनी मायके नहीं गई थीं, इसलिए मायके जाने की उत्कंठा का बढ़ना स्वाभाविक था। धीरेन्द्र से हुई आगे की बातचीत का संकेत बेटी जगमोही को समझाते हुए उन्होंने कहा-

"बिटिया, बहुत दिन हो गए मायके गए हुए। माता-पिता अब नहीं रहे कि मायके पहले जैसा हो, लेकिन परिवार और गाँव का समाज तो अभी भी वही है। मन करता है, एक बार जाकर देख आऊँ।"

जैसे-जैसे सामाजिक वातावरण बनता और बदलता है, उसकी हवा हर किसी को छूती है। यह असर केवल किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि पूरे समाज में फैलता है। परिवार में तीनों बेटियों की परवरिश, पढ़ाई-लिखाई और विवाह का बोझ जितना रामलखन पर था, उतना ही सुवासिनी पर भी।

लेकिन सुवासिनी कोई सामान्य स्त्री नहीं थीं। वे उन महिलाओं में से नहीं थीं जो मायके से ससुराल जाते समय केवल राजा-रानी की तरह विदा होकर अपने आप को संसार से पूरी तरह काट लेती हैं। वे समझदार और विवेकशील थीं। बेटा न होने के बावजूद उन्होंने बेटियों को आत्मनिर्भर और जागरूक बनाने का हर संभव प्रयास किया। वे परिवार की आर्थिक स्थिति को भली-भाँति समझती थीं, फिर भी जीवन की आगे की राह में उन्हें गहरी खाइयाँ साफ दिखाई देती थीं।

जैसे वातावरण की हवा में सुगंध होती है, वैसे ही दुर्गंध भी होती है। यही सोच उन्हें भीतर तक बेचैन कर देती थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि बेटी को जितना अधिक पढ़ाएँगे, विवाह में उतना ही अधिक खर्च उठाना पड़ेगा। यही सामाजिक कोढ़ है, जो धीरे-धीरे माता-पिता के हृदय को

खोखला कर देता है।

क्या इसे झुठलाया जा सकता है कि जिस बेटी की शिक्षा पर माता-पिता अपनी पूरी जान लगा देते हैं, वही बेटी जब विवाह योग्य होती है, तो समाज दान-दहेज के पहाड़ से उनका रास्ता रोक देता है? क्या यह समाज नहीं देख पा रहा कि पढ़ी-लिखी, सक्षम बेटियाँ परिवार की शक्ति बन सकती हैं? फिर भी वही समाज दान-दहेज को सबसे बड़ा मान देता है।

यह प्रश्न सुवासिनी के मन में बार-बार उठता रहा, क्या यह वातावरण सचमुच इतना दूषित नहीं हो गया है कि बेटी की शिक्षा भी एक बोझ बन जाए?

समाज में व्याप्त यह विषाक्त वातावरण केवल समाज ही बदल सकता है। इसलिए ऐसे सामाजिक ढाँचे का निर्माण ज़रूरी है, जो इस दूषित परिवेश को रोक सके, सुधार सके, या पूरी तरह परिवर्तित कर सके। लेकिन प्रश्न यह है कि ऐसा समाज बनेगा कैसे?

लगभग हर समाज में मुश्किल से ही कोई ऐसा परिवार होगा जो बेटे के विवाह में स्वयं को राजा न समझे और बेटी के विवाह में स्वयं को भिखारी न माने। लोग कहते तो हैं कि दान-दहेज पाप है, पर वही लोग जब अवसर आता है, तो उसी पाप को सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक बना लेते हैं।

जरूरत इस बात की है कि माता-पिता पहले पारिवारिक स्तर पर एक संयुक्त मोर्चा बनाएं, और फिर पुरुषों और महिलाओं का अलग-अलग सामाजिक मोर्चा खड़ा हो- ताकि दहेज जैसी कुप्रथा के विरुद्ध एक सच्ची और सशक्त एकजुटता खड़ी हो सके।

सब जानते हैं और कहते भी हैं कि युवाशक्ति देश का भाग्यनिर्माता है, लेकिन यही युवा वर्ग आज विषैले परिवेश का शिकार बन चुका है। न केवल यह पीढ़ी, बल्कि आने वाली पीढ़ियाँ भी इसी ढर्रे पर ढलती जा रही हैं। अविकसित समाजों में पहले भी अनमेल विवाह होते रहे हैं, चाहे वह विचारों के स्तर पर हो या भावनाओं के स्तर पर। लेकिन जब समाज आगे बढ़ चुका हो और फिर भी वही पुरानी सोच बनी रहे, तो प्रगति अधूरी रह

जाती है।

समाज तभी समस्यामुक्त हो सकता है जब हर व्यक्ति मानसिक और सामाजिक जकड़नों से मुक्त हो। जब हर घर आज़ादी की साँस लेगा, तभी देश की गति सच्चे अर्थों में तेज होगी और स्वतंत्रता का वास्तविक स्वरूप दिखाई देगा।

धीरेन्द्र से बातचीत की अनुमति माँ के मुँह से सुनते ही, जगमोही के मन में रंगों की लहरें दौड़ गईं। उसने अपने सारे विचारों को भीतर दबा लिया और निश्चय किया कि अगले दिन से वह कॉलेज के रीडिंग रूम में रोज़ एक घंटा धीरेन्द्र के साथ अध्ययन करेगी।

मिथिला का हर गाँव एक जैसा ही है, प्रेमनगर भी उसी परंपरा का हिस्सा है। यहाँ भी देवी-देवताओं की पूजा होती है, मान्यताएँ और संस्कार हैं। दर्जनों जातियाँ और उपजातियाँ हैं, और हर समूह के अपने देवी-देवता, रीति-रिवाज़ और जीवनशैली होती है। इन भिन्नताओं के बावजूद कुछ परिवार अपने विशेष स्वभाव और विचारों के कारण अलग पहचान रखते हैं।

धीरेन्द्र का परिवार भी ऐसा ही एक परिवार है। उसके पिता जीबेन्द्र का विचार स्पष्ट है-

"एक ही बेटा है, अगर उसके विवाह में दान-दहेज लेकर उसे बेच दूँ, तो मेरे अंतिम संस्कार में मुखाग्नि कौन देगा?" वे यह भी नहीं मानते कि बेटे के विवाह में जितना अधिक नकद या सामान लिया जाए, उतनी अधिक प्रतिष्ठा मिलती है।

आज भी समाज में दो विपरीत धाराएँ मौजूद हैं। एक ओर वे लोग हैं जो दहेज न लेने को सम्मान समझते हैं, और दूसरी ओर वे जो मानते हैं कि जितना बड़ा दहेज मिलेगा, उतनी ऊँची इज्जत बनेगी। यही विरोधाभास आज के समाज की सबसे बड़ी बीमारी है।

पिता जीबेन्द्र के विचारों का गहरा प्रभाव धीरेन्द्र पर पड़ा था। इसी कारण विवाह में दान-दहेज का विचार उसके मन से पूरी तरह मिट चुका

था। जिन परिवारों में दहेज का प्रचलन है, उनके सोच और व्यवहार में स्पष्ट अंतर होता है उन परिवारों से, जहाँ यह प्रथा नहीं है। भले ही ये परिवार एक-दूसरे को नीचा दिखाएँ या ताने मारें, लेकिन उनके विचारों की गहराई का भेद साफ़ झलकता है।

कॉलेज का रीडिंग रूम शाम पाँच बजे तक खुला रहता था। निर्धारित समय के अनुसार धीरेन्द्र पहले ही पहुँच चुका था। थोड़ी देर बाद जगमोही भी आ गई। संयोग कुछ ऐसा बना कि उस दिन रीडिंग रूम में कोई अन्य विद्यार्थी नहीं था। एक तो स्थान का सन्नाटा, दूसरे पहले दिन की निकटता, और ऊपर से कल की बातचीत, इन सबने माहौल में हल्का-सा भावनात्मक कंपन भर दिया।

धीरेन्द्र के पास जाकर जगमोही मुस्कराई और बोली-

"आपकी चर्चा माँ से की थी।"

'माँ' का नाम सुनते ही धीरेन्द्र हल्के से चौंक गया। चौंकने का कारण यह नहीं था कि किसी ने माँ का नाम लिया, बल्कि यह था कि जगमोही से हुई सामान्य-सी बातचीत अब एक गहरी दिशा में बढ़ती दिखाई देने लगी थी। मन में जो भावना कल तक केवल साथ पढ़ने वाली एक सहपाठी के लिए थी, अब वह पारिवारिक परिचय का रूप लेने लगी थी।

दरअसल, व्यक्तिगत और पारिवारिक विचारों में अंतर होता है। पर जहाँ यह अंतर मिटने लगता है, वहीं से संबंधों की गहराई आरंभ होती है। जैसे नदियों और नालों का जल मिलकर एक बड़ी नदी बनता है, वैसे ही अलग-अलग पारिवारिक दृष्टिकोण मिलकर एक साझा सोच का निर्माण करते हैं।

आज जो परिवार और समाज की रूपरेखा बन चुकी है, वह इस सामूहिक सोच से काफी दूर जा चुकी है। इसका कारण सदियों से चली आ रही मानसिक गुलामी की वे जंजीरें हैं, जो इतने गहरे स्तर पर जीवन में बुनी गई हैं कि अब परिवार हो या समाज, हर जगह व्यक्तिगत स्वार्थ सामूहिक चिंतन पर हावी हो गया है।

जब तक यह ऊँच-नीच और भेदभाव मिटकर एकरसता में नहीं बदलेगा, जीवन संतुलित नहीं हो सकता। चाहे परिवार हो या समाज, अगर सामूहिकता कमजोर होगी, तो जीवन की हर सीढ़ी अस्थिर ही रहेगी। और जब जीवन की दिशा ही स्पष्ट न हो, तब यह सोचना भी कठिन हो जाता है कि मनुष्य का जीवन कैसा होना चाहिए।

जगमोही की बात सुनकर धीरेन्द्र ने कहा, "वैसे, अभी मैं ठीक से समझ नहीं पा रहा हूँ, लेकिन...।"

'लेकिन' कहते ही धीरेन्द्र के मन में यह विचार उठा कि यदि वह अभी जगमोही की माँ को "बहन" कहकर संबोधित करेगा, तो जगमोही का स्थान स्वतः ही एक निचले पारिवारिक दर्जे में चला जाएगा। और ऐसा होते ही, दोनों के बीच जो बराबरी और सहजता की भावना बनी थी, वह टूट सकती है।

धीरेन्द्र की इस अधूरी बात पर जगमोही ने हल्की मुस्कराहट के साथ पूछा-

"लेकिन क्या?"

रीडिंग रूम ऊँची छत वाला, चौड़ा और शांत था। चारों ओर सन्नाटा पसरा हुआ था। वहाँ दोनों के सिवा और कोई विद्यार्थी वहाँ नहीं था। जो तीन कर्मचारी थे, वे अपने-अपने दफ़्तर के काम में व्यस्त थे। इस गहराई से भरे सन्नाटे में जगमोही का प्रश्न धीरेन्द्र के भीतर गूँजता रहा।

वह अपने विचारों को सँभालते हुए बोला- "आपकी जन्मतिथि क्या है?"

जगमोही ने सहज स्वर में उत्तर दिया- "ग्यारह फरवरी को बीस वर्ष पूरे हो गए। और आपकी?"

धीरेन्द्र मुस्कुराया और बोला- "मैं हार गया, आप जीत गईं।"

धीरेन्द्र के मुँह से 'हार-जीत' सुनते ही जगमोही थोड़ा चौंक गई। उसके मन में विचार उठे- अभी तो परीक्षा का समय भी नहीं आया, फिर यह कैसी हार-जीत? किसने किससे, क्या जीत लिया?

धीरेन्द्र मुस्कराते हुए अपने भीतर सोच रहा था कि अब जगमोही उसके विचारों के सरोवर में उतर चुकी है। हालाँकि यह भटकाव नहीं था। भटकाव तो तब होता है जब मंज़िल का पता होते हुए भी रास्ता खो जाए, लेकिन यहाँ बात कुछ और थी। वह जानबूझकर जगमोही के मन की लहरों में उतर रहा था। उसने अपनी जन्मतिथि नहीं बताई, बस मुस्कान के माध्यम से बात को टाल गया।

जगमोही भी चुप नहीं रही। उसने धीरेन्द्र की आँखों में देखते हुए कहा-

"आपमौजी जैसे दुनिया है वैसे ही दुनिय के लोग भी। हर कोई अपनी सोच से विचारता है और अपने तरीके से बोलता है। कहीं कोई बात अच्छी लगती है, तो वहीं वही बात किसी और को बुरी भी लग सकती है।"

धीरेन्द्र उसके शब्दों से भीतर तक छू गया, जैसे कोई सधा हुआ बाण सीधे दिल को भेद गया हो। प्रभावित होकर, हल्की हँसी के साथ उसने विषय बदलते हुए कहा- "इस बार प्रेमनगर में आम भरपूर फले हैं। आइए, सब मिलकर चलें।"

जगमोही मुस्करा उठी। धीरेन्द्र के आमवाले निमंत्रण में एक सादगी थी, पर उसके भीतर जो अपनापन छिपा था, वह जगमोही के मन में देर तक गूँजता रहा।

'प्रेमनगर के आम' सुनते ही जगमोही के मन में बारह साल पहले का बचपन लौट आया। वह मुस्कराई और बोली-

"नाना के बगीचे के वे सिनुरिया आम खाए थे, जिनका छिलका पान से भी पतला और स्वाद कपूर से भी बढ़िया होता था।"

धीरेन्द्र के आम अब जगमोही की यादों में 'गुलाबख़ास' बन चुके थे। धीरेन्द्र मुस्कुराया और बोला- "कहा तो था कि आप जीत गईं और मैं हार गया। अब समझीं क्यों?"

जगमोही ने सहज भाव से कहा- "नहीं।"

धीरेन्द्र बोला- "जैसे आपकी जन्मतिथि ग्यारह फरवरी है, वैसे ही मेरी

ग्यारह जनवरी। यानी मैं आपसे एक महीना बड़ा हुआ, है न?”

जगमोही ने सिर हिलाकर कहा- “हाँ, यह तो समझ ही गई थी।”

धीरेन्द्र हँसते हुए बोला- “एक महीना बड़ा होते हुए भी मैं वहीं हूँ, जहाँ आप हैं।”

जगमोही ने भौंहें उठाकर पूछा- “क्या मतलब?”

धीरेन्द्र ने आँखों में हल्की चमक लाते हुए कहा- “मतलब यह कि बड़ा होते हुए भी हम दोनों एक ही कक्षा में पढ़ते हैं। इसलिए कहा कि मेरा एक महीना हारा और आपका एक महीना जीता।”

जगमोही मुस्कराई और तुरंत प्रत्युत्तर दिया- “इसका दूसरा पहलू भी है। जैसे आप अपने को हारा मान रहे हैं, वैसे ही मैं आपसे एक महीना छोटी हूँ, तो आप मुझसे श्रेष्ठ हुए।”

धीरेन्द्र उसके इस उत्तर पर कुछ क्षण चुप रहा। दोनों के बीच एक अनकहा अपनापन उतर आया। कमरे की निस्तब्धता में जैसे हवा भी धीरे से मुस्करा उठी।

जगमोही की बात सुनकर धीरेन्द्र ठहर गया। ठहरने का कारण यह नहीं था कि उसके पास उत्तर नहीं था, बल्कि यह कि जगमोही की बात निरर्थक नहीं थी। उसमें तर्क था, सोच थी। उसके मन में जैसे ताश के खेल का एक दृश्य उभर आया, जहाँ नहल पर दहला को मारा जाता है, तो वहीं बीबी पर बादशाह मारा जाता है। पर सवाल यह उठ खड़ा हुआ कि जब दोनों पक्षों के तर्क अपने-अपने स्थान पर सही हों, तो निर्णय का रास्ता क्या होगा?

अपने उलझे हुए मन के जंगल में धीरेन्द्र को एक ऐसा वृक्ष दिखा, जो बड़ा भी था और पुराना भी। उसने कहा- “एक बात कहूँ, जगमोही? आज तक लोगों के मन में यह धारणा क्यों बनी है कि विवाह में लड़का लड़की से उम्र में बड़ा होना चाहिए? देख रहा हूँ, साल-दर-साल यही चलन चला आ रहा है। तुम्हें क्या लगता है?”

धीरेन्द्र का सवाल जगमोही को तुरंत समझ में नहीं आया। वह बात

को स्पष्ट करने के लिए बोली- “क्या मतलब?”

धीरेन्द्र ने समझाते हुए कहा- “गाँव-समाज में देखते हैं कि कहीं पुरुष अधिक उम्र तक जीते हैं, कहीं महिलाएँ। तो उम्र के हिसाब से दोनों बराबर ही हुए न?”

जगमोही ने सिर हिलाकर कहा- “हाँ, यह तो सही बात है।”

धीरेन्द्र ने फिर पूछा- “तो फिर कम उम्र की लड़की का विवाह अधिक उम्र के पुरुष से ही क्यों किया जाता है?”

धीरेन्द्र के सवाल से जगमोही कुछ असहज हुई। एक पल को उसे लगा कि वह उत्तर नहीं दे पाएगी, लेकिन तुरंत ही मन में यह विचार आया कि जब दो लोग ईमानदारी से विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, तो निष्कर्ष भी सच्चा ही निकलता है।

धीरेन्द्र के मन में भी एक विचार उठा। अब तक जैसे वह अपनी किताबों में सीमित सोच लेकर चलता आया था, वैसे ही सीमित सोच शायद जगमोही की भी है। इसलिए यह चर्चा कोई गलती नहीं, बल्कि परिपक्वता की निशानी है।

विचारों के इस क्रम में धीरेन्द्र का मन हल्का हो गया और उसके चेहरे पर एक सहज मुस्कान उतर आई।

धीरेन्द्र की मुस्कान देखकर जगमोही बोली-

“इस बार मातृक के आम ज़रूर खाएँगे।”

धीरेन्द्र ने हँसते हुए कहा-

“अकेले नहीं, तीनों बहनों और माता-पिता को भी साथ ले चलिए। सब मिलकर प्रेमनगर के आम खाएँ, यही मेरा आग्रह है।”

कमरा फिर शांत हो गया। लेकिन उस शांति में अब एक मधुर अपनापन घुल चुका था। ❑

3

चार दिन बाद कॉलेज बंद हो जाएगा। हर साल की तरह इस बार भी लगभग एक महीने की छुट्टी होगी। अमैया की यह छुट्टी आम के बगीचे में बीतेगी। यह बात जगमोही के मन में जितनी स्पष्ट थी, उतनी ही धीरेन्द्र के मन में भी।

पहले की तरह अब शिक्षण संस्थान नहीं रह गए हैं। पहले लोअर प्राइमरी, मिडिल स्कूल, हाई स्कूल या कॉलेज- हर संस्थान की छुट्टियाँ एक तय समय पर होती थीं। जिस तरह सभी कॉलेजों में एक ही दिन से छुट्टियाँ शुरू होती थीं, उसी तरह अन्य स्कूलों में भी एकरूपता रहती थी। हाँ, छुट्टियों की अवधि अलग-अलग होती थी: कॉलेज में सबसे अधिक, फिर हाई स्कूल, और उसके बाद मिडिल और लोअर प्राइमरी में। फिर भी उस समय एक लय, एक समानता थी। अब वह व्यवस्था टूट चुकी है। किसी संस्थान में छुट्टियाँ समाप्त हो रही होती हैं, तो किसी और संस्थान में उस समय शुरू हो रही होती हैं। अब हर स्कूल का अपना नियम है।

नियम तो हर संस्था बना सकती है, लेकिन छुट्टी का कारण भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए, गर्मी की छुट्टी का उद्देश्य यही होता है कि जब मौसम बहुत गर्म हो जाए और पढ़ाई में बाधा आने लगे, तो विद्यार्थियों को अवकाश दिया जाए। पहले नर्सरी से लेकर कॉलेज तक की गर्मी की छुट्टियों में एक समानता होती थी, अब नहीं है।

पूर्व में अधिकांश शिक्षण संस्थान सरकारी होते थे। अब निजी संस्थाएँ भी बड़ी संख्या में उभर आई हैं और उनकी अपनी-अपनी विचारधाराएँ हैं। सरकारी संस्थान चाहे भव्य इमारतों में चल रहे हों, लेकिन अब वहाँ शिक्षा का कार्य मुख्यतः भोजन, छात्रवृत्ति और अन्य सुविधाओं तक सिमट कर रह गया है। दूसरी ओर, निजी संस्थान अपने-अपने

सम्प्रदायों और संस्कारों से प्रभावित होकर अलग-अलग दिशा में बढ़ते जा रहे हैं, जिससे उनके बीच दूरी भी बढ़ रही है।

इसके साथ ही आरक्षण की व्यवस्था भी प्रभावी हो रही है। सरकारी संस्थानों में जाति-आधारित आरक्षण है, जिससे कुछ विशेष जातियों और परिवारों को लाभ तो मिल रहा है, लेकिन सामूहिकता का अभाव साफ़ दिखाई देता है। वहीं, निजी संस्थानों में धन-आधारित आरक्षण है। वहाँ डोनेशन देने वाला ही आरक्षित माना जाता है। इस व्यवस्था में भी समानता नहीं है। अमीर, मध्यम और निम्न आय वर्ग के लिए दान की अलग-अलग राशि निर्धारित होती है और उसी के अनुसार संस्थान की सेवाएँ भी बदल जाती हैं।

जिस कॉलेज में धीरेन्द्र का चौथा वर्ष है, उसी कॉलेज में जगमोही का भी चौथा वर्ष चल रहा है। दोनों शुरू से साथ पढ़ते आए हैं और अब भी साथ पढ़ रहे हैं, लेकिन आपस में बातचीत न होने के कारण न तो कोई पहचान बन पाई, न ही एक-दूसरे को समझने या जानने का अवसर मिला। इसी वजह से उनके बीच कोई भावनात्मक जुड़ाव नहीं बन सका। जैसे धीरेन्द्र के लिए जगमोही सिर्फ एक सहपाठी थी, वैसे ही जगमोही के लिए धीरेन्द्र भी महज एक सहपाठी ही था।

शिक्षण संस्थान एक तीर्थ-स्थान की तरह होता है, जहाँ छात्र केवल उतने समय के लिए आते हैं, जितने समय में उनका काम पूरा हो जाए। फिर वे घर-परिवार की जिम्मेदारियों की ओर लौट जाते हैं। लेकिन कल जब धीरेन्द्र और जगमोही के बीच बातचीत हुई और पहचान बनी, तो उनके जीवन में एक नई चेतना, एक नया जागरण उत्पन्न होने लगा।

जब धीरेन्द्र ने महीने भर की छुट्टी में जगमोही को अपने गाँव आने का निमंत्रण दिया, तो उसके भीतर एक नई जिम्मेदारी का भाव भी जाग उठा। वैसे भी, धीरेन्द्र का गाँव जगमोही का ननिहाल था, इसलिए उनके बीच एक स्वाभाविक आकर्षण भी बढ़ने लगा। दोनों के मन में प्रेम की हल्की तरंगें उठने लगीं। जिस तरह धीरेन्द्र के मन में भावनाओं का सागर हिलोरे लेने लगा, उसी तरह जगमोही के भीतर भी।

पढ़ाई समाप्त कर जब दोनों अध्ययन-कक्ष से बाहर निकले और कॉलेज के अंतिम फाटक तक पहुँचे, जहाँ से उन्हें दो अलग दिशाओं में जाना था, वहाँ जगमोही रुककर बोली-

"कल फिर भेंट होगी, न?"

जगमोही के आग्रह से धीरेन्द्र प्रभावित हुआ। वह मुस्कुराया और बोला-

"अगर कोई बाधा न आई, तो निश्चित ही, इसी समय और इसी जगह मिलेंगे।"

जगमोही के मन में यह विचार भी आया कि अभी तो देर नहीं हुई है, क्यों न धीरेन्द्र के डेरे तक चला जाए। लेकिन धीरेन्द्र के मन में छुट्टियों और गाँव लौटने की तैयारियाँ घूम रही थीं। उसने सोचा कि पूरा महीना गाँव में रहना है और कॉलेज भी बंद रहेगा, तो पटना अनायास लौटने का कोई मतलब नहीं। यहाँ का सारा काम निपटाकर जाना ही उचित रहेगा।

काम के बोझ से धीरेन्द्र का मन दबा हुआ था, इसलिए वह जगमोही को अपने डेरे पर आने का निमंत्रण नहीं दे सका। सच तो यह है कि कर्म ही धर्म की सृष्टि करता है। जीवन में कुछ पाने की संभावना तभी बनती है जब व्यक्ति अपने कर्म से जुड़ा रहता है। बातचीत तो कहीं सिखाई नहीं जाती- फिर पूरा महीना साथ रहने का अवसर मिलेगा ही।

जिस तरह कर्मनिष्ठ व्यक्ति बिना कुछ कहे अपने काम में लग जाता है, उसी तरह कॉलेज के अंतिम द्वार से निकलने के बाद धीरेन्द्र भी बिना रुके अपने डेरे की ओर बढ़ गया..!

जब से जगमोही के मुख से सुवासिनी ने धीरेन्द्र के विषय में सुना, तभी से उसके मन में आशा की एक हल्की ज्योति टिमटिमाने लगी थी। यह ज्योति इस विचार से जन्मी थी कि इस संसार में असहाय स्त्री के दुख का निवारण या तो पति कर सकता है या भाई। और जब ऐसा पुरुष मिल रहा हो, तो इस अवसर को छोड़ना मूर्खता ही होगी।

जगमोही के लौटने से पहले ही सुवासिनी बाजार का सारा काम

निपटाकर डेरे पर पहुँच चुकी थी। वहाँ पहुँचकर उसने घर के सारे छोटे-बड़े काम भी संभाल लिए थे।

जैसे ही जगमोही घर पहुँची, सुवासिनी ने पूछा- "बेटी, धीरेन्द्र से भेंट हुई थी?"

जगमोही का मन पहले से ही धीरेन्द्र की ओर खिंच रहा था। माँ के इस सवाल ने उस आकर्षण को और गहरा कर दिया। वैसे भी अब कॉलेजों में लड़के-लड़कियों के बीच का संबंध गाँव के माहौल की तुलना में कहीं अधिक खुला और सहज हो गया है। शहरी जीवन ने ग्रामीण समाज की बहुत-सी शंकाओं को दूर कर दिया है। उसी प्रवाह में बहती हुई जगमोही ने सहजता से उत्तर दिया-

“जैसे बाकी दिनों में धीरेन्द्र आता है, वैसे ही आज भी आया था और रीडिंग रूम में था।”

जगमोही की बात सुनकर सुवासिनी एकाएक भीतर की ओर चली गई। भीतर जाते ही विचारों की एक धारा बह निकली। उसने सोचा- जिस प्रकार हर पुरुष का किसी स्त्री से संबंध बनता है, उसी प्रकार हर स्त्री का भी किसी पुरुष से संबंध जुड़ता है, और यही सृष्टि का नियम है। मनुष्यों की भीड़ में जैसे असंख्य पुरुष हैं, वैसे ही असंख्य स्त्रियाँ भी हैं। लेकिन किस स्त्री का किस पुरुष से संबंध बने, यह तो विवेकवान ही सोचते हैं, ताकि समाज में मर्यादित परंपरा बनी रहे।

भाई-बहन का संबंध तो प्रकृति प्रदत्त होता है। एक ही माँ की कोख से जन्मी संतानों के बीच जिस प्रकार भातृत्व का संबंध स्वाभाविक रूप से स्थापित होता है, वैसा अन्य किसी के साथ नहीं होता। फिर भी व्यावहारिक जीवन में ऐसी कई दिशाएँ हैं, जहाँ भाईचारे की भावना पनपती रही है। हर व्यक्ति का अपना स्वभाव होता है, इसलिए संबंधों के रूप और रंग भी भिन्न होते हैं।

लेकिन इस समय सुवासिनी के मन में जो विचार उठे, वे केवल व्यावहारिक चिंता से प्रेरित थे। उसके पति की आय इतनी नहीं थी कि वह

परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करते हुए तीनों बेटियों के विवाह का भार भी सहजता से उठा सके। रामलखन की सीमित तनख्वाह से किसी तरह भोजन, वस्त्र और बच्चों की पढ़ाई का ख़र्च चल पाता था। अब तक केवल जगमोही की कॉलेज की पढ़ाई का ख़र्च था, लेकिन अब जब वह अपनी पढ़ाई पूरी करेगी, तब तक छोटी दोनों बेटियाँ भी कॉलेज जाने लायक हो जाएँगी। इन सबके बीच जगमोही का विवाह रामलखन के लिए सबसे बड़ी चिंता बनकर खड़ा था।

सूर्यास्त के बाद जैसे साँझ धीरे-धीरे गहराकर काली पड़ जाती है और चारों ओर ऐसी रात उतर आती है जिसमें हाथ के सामने हाथ तक दिखाई नहीं देता, वैसे ही सुवासिनी के सामने भी पारिवारिक समस्याएँ एक-एक कर अंधेरी रात की तरह गहराती चली गईं।

फिर भी अपने को संभालते हुए सुवासिनी ने जगमोही से कहा-

"बेटी, तुम्हारे पिता अब ड्यूटी से आने वाले होंगे। उनसे कह देना कि इस बार अमैया की छुट्टियों में मातृक चलना है। ज्यों ही बात उठेगी, अपने आप कई तरह की बातें निकलेंगी, और अंत में कुछ-न-कुछ निर्णय तो हो ही जाएगा।"

जगमोही नई पीढ़ी की लड़की थी, जिसने आधुनिक परिवेश में आँखें खोली थीं। वह सामाजिक जीवन को देखती जरूर थी, पर अनुभव अभी अधूरा था। आधुनिकता की कई रंगीन हवाएँ उसे छू चुकी थीं, बहुत कुछ वह देख भी चुकी थी, फिर भी सोच में परिपक्वता का अभाव था। उसे यह समझ नहीं आ रहा था कि उसकी जीवन-धारा किस दिशा में और किस मार्ग पर बहेगी। समझना आसान नहीं था, क्योंकि वह जिस रंगीन दुनिया को देख रही थी, उस में भी विघटन के रंग कम नहीं थे।

छह बजते-बजते रामलखन डेरा पहुँच गए। पत्नी के चेहरे पर चमक और मुस्कान देखकर वे तुरंत समझ गए कि उसके मन में कुछ चल रहा है। कपड़े उतारकर जब वे जाकर मुँह-हाथ धोने लगे, उसी समय सुवासिनी चाय लेकर आ पहुँची। कहावत सही है कि जब मन में कोई विचार गहराई पकड़ लेता है, तो उसका असर कर्म पर भी दिखाई देने लगता है। रामलखन के

मन में तो पिछले एक वर्ष से 'कन्यादान' का विचार स्थायी रूप से बैठ गया था। वही चिंता हर समय उन्हें घेरे रहती थी। वे स्वयं को समझाते रहते कि जितना संभव होगा, उतना ही करेंगे। जितना साधन है, उतना खर्च करके बेटी का विवाह करेंगे।

लेकिन मन को कहाँ शांति मिलती है। अनेक प्रश्न उनके भीतर लगातार घूमते रहते थे। क्या केवल अपने विचारों के आधार पर बेटी के लिए उचित स्थान तय किया जा सकता है? जहाँ दो परिवार हों, दो माता-पिता हों, दो युवक-युवती हों और दो समाजों का संगम हो, वहाँ क्या अकेला व्यक्ति कुछ भी तय कर सकता है?

इन्हीं उलझनों में रामलखन का मन डोलता रहता। न तो परिवार में कोई दूसरा कमाने वाला था, जिससे वे सलाह ले सकते, और न ही कोई ऐसा साथी जिससे अपने मन की बात साझा कर सकें। इसलिए उन्होंने अपने विचारों को भीतर ही भीतर समेट लिया था और चुपचाप अपने दायित्वों का बोझ ढोते रहे।

आधा कप चाय पीने के बाद जब उनका मन थोड़ा हल्का हुआ, तो उनकी नज़र अनायास सुवासिनी की ओर उठ गई।

सुवासिनी के मन में मायके जाने का विचार पहले से ही घूम रहा था। उसने शांत स्वर में कहा-

“इस बार की अमैया छुट्टी प्रेमनगर में बिताएँगे।"

प्रेमनगर रामलखन का ससुराल था, सुवासिनी का मायके और जगमोही की ननिहाल भी। लेकिन रामलखन ने सुवासिनी की बात का अर्थ कुछ और ही निकाला। उन्होंने मन ही मन अमैया की छुट्टी का मतलब ‘शहर से विश्राम’ और प्रेमनगर का अर्थ ‘प्रेम से परिचय’ मानते हुए मुस्कराकर कहा-

“हर कोई चाहता है कि शहर की छुट्टी प्रेमनगर में बीते, लेकिन पहले प्रेमनगर को जानना और समझना जरूरी होता है। जब कोई उस जगह को पहचान लेता है, तभी वह वहाँ बस पाता है और उसका हिस्सा बन पाता

है।"

रामलखन की बात सुनकर सुवासिनी चौंक उठी, और जगमोही के मन में भी हलचल हुई। दोनों के चौंकने के अपने-अपने कारण थे और अपनी-अपनी व्याख्याएँ।

जिस तरह मछुआरा तालाब में पहले छोटा जाल डालकर मछलियों की स्थिति का अनुमान लगाता है, उसी तरह रामलखन भी विचारों का जाल बिछाकर अपनी पत्नी और बेटी की बुद्धि और प्रकृति का अंदाज़ा लेने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन न तो जगमोही ने उनकी बात की गहराई को समझा, और न ही सुवासिनी ने। घर की छोटी दोनों बेटियाँ तो पूरी तरह श्रोता थीं, जिन्हें सवाल-जवाब से कोई मतलब नहीं था। वे जो कुछ सुनतीं, वही सच मान लेतीं।

जगमोही के मन में यह अवश्य उठा कि पिता ने जो कुछ कहा, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जीवन से जुड़ी बात ही होगी। वे न तो व्यर्थ बातें करते हैं, न ही ऐसी उलझन भरी कोई बात कहेंगे जिससे परिवार को ठेस पहुँचे। इसलिए उसने पिता की बात को मन ही मन दोहराया और आगे की बातें सुनने के लिए अपने कान एकाग्र कर लिए।

जब सभी लोग एक साथ बैठकर पारिवारिक चर्चा कर रहे थे, तब जगमोही को लगा कि यदि वह पिता की बात पूरी तरह न समझ सकी तो वह बाद में उनसे दोबारा पूछ सकती है। परंतु सुवासिनी के मन में ऐसा कोई विचार नहीं आया। उसके भीतर यह भाव अवश्य उठा कि पति-पत्नी मिलकर जब परिवार की गाड़ी खींचते हैं, तो यदि उस गाड़ी का एक पहिया कमजोर हो गया, तो वह गाड़ी राह में टूट या फिसल सकता है।

रामलखन की बात के बाद घर में एक गहरी चुप्पी छा गई। यह चुप्पी सुवासिनी को बिल्कुल अच्छी नहीं लगी। उसे लगा कि जब पूरे दिन सब अपने-अपने काम में उलझे रहते हैं, और अब जब सभी एक साथ बैठे हैं, तो यदि सब चुप रहेंगे, तो दिनभर की बातें और घर की गतिविधियाँ कैसे साझा होंगी?

जीवन तो जीवन है, इसे रोज़ जीना पड़ता है। यह उस शिकारी व्याध

की तरह नहीं है जो पूरी उम्र चिड़ियों को मारता रहा और जब मृत्युशय्या पर पड़ा, तो वही चिड़ियाँ एक-एक कर हिसाब माँगने आ गईं। जीवन का हिसाब हर दिन का होता है। उसे टाला नहीं जा सकता।

सुवासिनी को यह सन्नाटा असह्य लगा। उसने पति की ओर देखते हुए कहा-

“ऐसा लगता है जैसे आप अब भी दफ्तर में बैठे, किसी सरकारी अधिकारी की तरह व्यवहार कर रहे हैं। अब जब घर में हैं, तो बातचीत भी घर जैसी होनी चाहिए। परिवार से जुड़ी बातें जब हम खुद कहेंगे, तभी तो परिवार से उत्तर मिलने की आशा भी कर सकते हैं।"

सुवासिनी की बात को जगमोही ने भी ध्यान से सुना और वह भी पिता की ओर देखने लगी। पत्नी और बेटी की चारों आँखें जब एक साथ रामलखन पर टिक गईं, तो वह थोड़ा सचेत हुए और बोले-

“हम सब जानते हैं कि हम परिवार में हैं और यह भी कि परिवार की गाड़ी हमें ही चलानी है। इसलिए यहाँ छुट्टी का कोई प्रश्न नहीं है। अमैया की छुट्टी हो या दुर्गापूजा की, वह तो स्कूल-कॉलेज की बातें हैं। हाँ, तुम सबको महीने भर की छुट्टी मिल सकती है, लेकिन मुझे तो एक दिन की भी नहीं। सी.एल. भी गिनती के दिन की होती है। अब बताओ, अमैया की छुट्टी सबकी प्रेमनगर में कैसे बितेगी?”

पति की बात सुनकर सुवासिनी ज़िम्मेदारी के भाव से बोली-

“बहुत दिन हो गए मायके गए हुए। नारी का नारीत्व तो तभी खिलता है जब मायके और ससुराल दोनों से संपर्क बना रहे। जब तक बेटी का विवाह नहीं होता, तब तक मायके या ससुराल का क्या अर्थ? असली जीवन तो विवाह के बाद ही शुरू होता है, जब वह दूसरे समाज का हिस्सा बनती है। फुलकुमारी को भी अब बारहवाँ साल लग गया है।"

मायके की बात से हटकर जब फुलकुमारी का नाम आया, तो रामलखन बीच में ही बोल उठे-

“जब तक माता-पिता जीवित थे, तभी तक मायके था। अब भाई-

भाभी क्या देखेंगे, अपना घर-संसार या उजड़ी-उपटी बहन-बहनोई का हाल?”

उनकी आवाज़ में थकान थी और साथ ही भीतर की एक गहरी व्यथा भी। जैसे वे अपने जीवन की जिम्मेदारियों से इतने थक चुके हों कि रिश्तों की कोमलता अब केवल स्मृति बनकर रह गई हो।

पति की बात सुनकर सुवासिनी ठिठक गई। उसी क्षण उसके मन में एक अनकहा संताप उठ खड़ा हुआ। एक दृष्टि से देखा जाए तो पति की बात में सच्चाई भी थी, मायके का परिवार अब पहले जैसा नहीं रहा। लेकिन क्या अपने माता-पिता की धरती को सुगंध की जगह दुर्गंध मान लेना उचित होगा? सुवासिनी का मन भीतर ही भीतर हलचल से भर गया। विचारों की कई धाराएँ जैसे एक-दूसरे से टकराने लगीं। एक ओर वह अपने वर्तमान परिवार को देख रही थी, तो दूसरी ओर बीते दिनों का परिवार, सारे दृश्य उसकी आँखों के सामने आ खड़ा हुआ। वह भीतर से सकपका गई।

माँ के इस उलझे मन को भाँपते हुए, माता-पिता के बीच सामंजस्य स्थापित करने की भावना से जगमोही बोली-

“पिताजी, वैसे तो मैं धीरेन्द्र को मातृक की दृष्टि से नहीं जानती, पर वह कॉलेज में मेरा सहपाठी है। हम एक ही कक्षा में पढ़ते हैं और ट्यूटोरियल में भी साथ रहते हैं। उसी ने कहा था कि इस बार की छुट्टी प्रेमनगर में बिताओ।"

जगमोही की बात सुनकर रामलखन कुछ सहम गए, लेकिन उसी सहम के भीतर एक मधुरता भी घुल गई। उनके विचारों में एक हल्की मिठास जाग उठी और सोच की दिशा बदलने लगी। उनके मन में कई प्रश्न उठे। अगर पत्नी का मायके नहीं रहेगा, तो मेरा ससुराल और बच्चों के लिए मातृक का क्या अर्थ बचेगा? माता-पिता के न रहने से समधियौरी का रिश्ता भले ही फीका पड़ जाए, लेकिन अगली पीढ़ी के लिए तो नाना-नानी, मामा-मामी और भाई-भौजाई का गाँव बना ही रहेगा।

रामलखन को विचारों में डूबा देख सुवासिनी ने जैसे बीच में ही

झटका देकर कहा-

“मायके और ससुराल किसी एक व्यक्ति के नहीं होते। वे तो माता-पिता और सास-ससुर के पूरे समाज का प्रतीक होते हैं।"

तीनों बेटियाँ 'मायके' और 'ससुराल' जैसे शब्द तो अक्सर सुनती रही थीं, लेकिन 'माता-पिता और सास-ससुर का समाज' जैसी बात उन्होंने न पहले कभी सुनी थी, न समझी थी। इसलिए उनके भीतर एक साथ जिज्ञासा जाग उठी, पर वह जिज्ञासा तीनों की समझ के अनुसार तीन अलग रंगों में विभाजित हो गई।

जगमोही के मन में यह विचार भी आया कि जब माता-पिता दोनों ही समाज के संचालक होते हैं, तो फिर इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच अंतर क्या है?

फुलकुमारी ने सोचा, एक कहलाता है ‘बपहर’ और दूसरा ‘ममहर’, तो फिर ये दोनों समाज अलग कैसे हो सकते हैं?

वहीं सबसे छोटी बेटी के बाल-मन में यह सवाल उठा कि जब नाना-नानी और दादा-दादी सब गुजर गए, तो अब उनके किस्से-कहानियाँ कौन सुनाएगा?

परिवार के इस समरस क्षण को महसूस करते हुए रामलखन ने शांत और संयत स्वर में कहा-

“एक ही परिवार में रहते हुए भी हम सब अपने-अपने रंगों में बँधे हुए हैं। इसी कारण जीवन में एकरूपता भी है और बहुरूपता भी। इन दोनों के बीच ही संतुलन बनाए रखते हुए चलना ही सबसे अच्छा होता है।"

रामलखन अपने विचारों को आगे बढ़ाते रहे, लेकिन सुवासिनी का मन अब भी मायके और ससुराल के बीच के अंतर और दूरी में उलझा हुआ था। वह सोच रही थी कि कब वह अपने मायके को ससुराल के समान आदरणीय समाज के रूप में स्थापित कर पाएगी।

जो भी हो, रामलखन की बातों को जितनी गहराई से जगमोही ने सुना और समझा, उतना सुवासिनी नहीं समझ पाई। इसका कारण यह था

कि वह अपने मायके और ससुराल से जुड़ी भावनाओं में इतनी उलझ गई थी कि जैसे मन की गति ही थम गई हो।

कुछ देर बाद, स्वयं को सँभालते हुए वह अचानक बोली-

“जिस तरह अपने माता-पिता का समाज होता है, उसी तरह दूसरों के माता-पिता का समाज भी समाज ही होता है। इन्हीं के बीच से परिवार उठता है और सामाजिक सरोकारों को बाँधते हुए अनेक संबंधों और भावनाओं का निर्माण होता है।"

जगमोही ने यह बात पूरी तन्मयता से सुनी। रामलखन ने भी ध्यानपूर्वक सुना, लेकिन उन्होंने इस विचार को आगे नहीं बढ़ाया। उन्होंने केवल इतना कहा-

“वैसे तो बिना बुलाए भी लोग मातृक या मायके चले ही जाते हैं, लेकिन निमंत्रण और अपनत्व का आग्रह भी अपनी जगह बहुत मायने रखता है।"

रामलखन की यह बात सुनकर घर के माहौल में जैसे मिठास घुल गई। सबके बीच की बातचीत में फिर से सहजता लौट आई।

थोड़ी देर बाद, विषय बदलते हुए सुवासिनी ने पूछा-

“जगमोही, तुम्हारा कॉलेज कब से बंद होगा?”

जगमोही ने उत्तर दिया-

“चार दिन बाद।"

बीच में ही रामलखन ने पूछा-

“छुट्टी कितने दिन की है?”

जगमोही बोली- “एक महीने और सात दिन की।"

रामलखन मुस्कराते हुए बोले- “सात दिन आगे-पीछे की मान लो, बाकी जो एक महीना बचेगा, उसमें मातृक होकर लौट आओ।"

सुवासिनी ने बात को तुरंत पकड़ते हुए कहा- “हम सब माँ-बेटियाँ साथ चलेंगी, पर लाने और पहुँचाने की ज़िम्मेदारी तो आपकी ही रहेगी, है

न?”

रामलखन बोले-

“तीन दिन बाद रविवार है। उसी दिन पहुँचा दूँगा और सुबह ही लौट आऊँगा। जब तीस दिन पूरे हो जाएँगे, तो अगर उस दिन रविवार या कोई और छुट्टी नहीं भी हुई, तो सी.एल. लेकर पहुँच कर ले आऊँगा। यही ठीक रहेगा।"

सुवासिनी ने सिर हिलाते हुए धीमे स्वर में कहा-

“हाँ।"

अब घर के वातावरण में संतोष और सहजता की एक शांत लहर फैल गई। मनों की गाँठें जैसे धीरे-धीरे ढीली पड़ने लगी थीं। ❑

4

कॉलेज बंद होते ही धीरेन्द्र गाँव जाने की तैयारी में लग गया। वह तीन-चार दिन पहले से ही अपने सामान समेटने में जुटा था। एक महीने की छुट्टी बिताने वह गाँव तो जा ही रहा था, साथ ही पटना से संबंधित परिवार के कई जरूरी कार्य भी अपने किए हुए जा रहा था।

पटना में रहते हुए भी वह स्वयं को प्रेमनगरी मानता था, पटनिया नहीं। कारण भी साफ है। वह पटना केवल पढ़ाई के लिए आया था, एक छात्र की तरह, स्थायी निवासी बनकर नहीं। उसका असली ठिकाना प्रेमनगर ही था।

धीरेन्द्र अपनी मातृभूमि के आकर्षण को केवल एक भावनात्मक लगाव नहीं मानता था, बल्कि उसे अपनी कर्मभूमि और धर्मभूमि दोनों के रूप में देखता और पूरी निष्ठा से निभाता भी था।

हालाँकि, कर्मभूमि और धर्मभूमि कहीं भी हो सकती हैं, क्योंकि यह दुनिया हर किसी की है। लेकिन अगर सभी लोग केवल सुविधा और आराम की खोज में एक ही स्थान पर इकट्ठा हो जाएँ, तो वहाँ सभी के लिए स्थान नहीं बचेगा। और यदि किसी तरह स्थान मिल भी जाए, तो शेष दुनिया वीरान खेतों की तरह खाली रह जाएगी, पहाड़, नदियाँ और नाले उपेक्षित पड़े रहेंगे।

आज जैसी संतुलित और सुंदर दुनिया है, वह फिर संभव नहीं होगी। इसलिए हर भूमि को अपनी कर्मभूमि बनाना आवश्यक है।

बचपन से ही धीरेन्द्र को अपने परिवार, समाज और गाँव की मिट्टी और पानी से गहरा जुड़ाव रहा है। उसने अपने आप को हमेशा गाँव के परिवेश, वहाँ के लोगों, जल, और मिट्टी, के बीच पाया और महसूस किया। यही अपनापन धीरे-धीरे उसकी सोच का हिस्सा बन गया, और वह स्वयं को

गाँव का ऋणी मानने लगा।

ऋणी होना कोई दुर्गुण नहीं होता, बल्कि यह एक सद्गुण है। यह व्यक्ति को जिम्मेदार बनाता है, उसके हाथ-पाँव, बुद्धि और सोच को अनुशासित करता है, और जीवन में एक मधुरता भर देता है। यह गुण धीरेन्द्र को बचपन से ही अपने परिवार से प्राप्त हुआ था।

अपने शुरुआती जीवन में, जब वह बच्चा था, उसने गाँव के स्कूल में एक बुजुर्ग गुरुजी से पढ़ाई की और साथ ही 'फूलवारी' की शिक्षा भी पाई। यही शिक्षा धीरेन्द्र के स्वभाव में रच-बस गई। पढ़ाई के साथ-साथ उसने दो कट्ठा खेत में फलदार पेड़ लगाए, और घर-आँगन, दरवाज़े तथा खूँटे से बँधी गायों की सेवा को भी अपना कर्तव्य मानकर निभाया।

आज से सात वर्ष पूर्व, धीरेन्द्र ने अपने ही निर्णय से पाँच आम के पेड़ लगाए थे। इसके अतिरिक्त उसने लताम, नींबू और पपीता के पौधे भी रोपे थे। इन पेड़ों को लगाने का विचार उसने स्वयं ही किया था। उसके पिता ने इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया, क्योंकि उसे बागवानी की प्रारंभिक शिक्षा गुरुजी से मिल चुकी थी, और खेत-खलिहान की समझ तो उसके वंशानुगत ज्ञान में थी ही। इसलिए पिता को कुछ कहने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी।

धीरेन्द्र के बालमन में एक प्रखर सोच और दूरदृष्टि थी। मौसम की गणना को समझते हुए, उसने एक जैसी प्रजाति के पाँच आम के पेड़ न लगाकर, पाँच भिन्न-भिन्न प्रजातियों के आम लगाए, जिनके फल क्रमशः पकते हैं। वह जानता था कि एक जैसे आम के पेड़ एक साथ फूलते, फलते और पकते हैं, जिससे उनका उपयोग सीमित समय के लिए ही हो पाता है।

वहीं, विभिन्न किस्मों के आम लगाने से फलने का समय लंबा हो जाता है–फल क्रमशः पकते हैं–और लाभ भी पाँच गुना तक बढ़ जाता है। यही व्यावहारिक सोच धीरेन्द्र के बालमन की परिपक्वता का प्रमाण है।

संयोग अच्छा रहा, इस बार पाँचों पेड़ों पर खूब फल लगे थे। यह खबर पिता ने पहले ही पटना में उसे भेज दी थी।

खुद लगाए पेड़ों पर जब फल आते हैं, तो मन में एक विशेष लगाव

होना स्वाभाविक है। कॉलेज बंद होते ही धीरेन्द्र रातों-रात गाँव के लिए रवाना हो गया।

अब यात्रा की सुविधा काफी बढ़ चुकी है। दिन हो या रात, कभी भी निकला जा सकता है। हाँ, सड़कों की हालत भले सुधर गई हो, पर आवागमन की समुचित सुविधा अभी भी अधूरी है। लोग अक्सर सड़क की स्थिति को ही यात्रा-सुविधा मान लेते हैं, जबकि असली सुविधा तो तब मानी जाएगी जब सड़कों के साथ-साथ सवारी की उपलब्धता भी सुनिश्चित और व्यवस्थित हो।

फिलहाल तो स्थिति यह है कि गाड़ियाँ तो बढ़ गई हैं, लेकिन उनका किराया मनमाना है। लोग 'जैसा देश, वैसा भेष' मानकर जैसे-तैसे अपनी मंज़िल तक पहुँचते हैं।

प्रेमनगर पहुँचने के रास्ते में कहीं-कहीं अब भी कच्ची सड़कों से गुजरना पड़ता है। रेल-मार्ग उतना लाभदायक नहीं, जितनी बस यात्रा। पटना से रात में भोजन के बाद बस पकड़ लो और सुबह सूरज निकलते-निकलते प्रेमनगर पहुँच जाओ। धीरेन्द्र इस बात को जानता था और इस बार भी वही किया।

बस में सीट मिलते ही धीरेन्द्र उनींदा हो गया। जैसे ही बस चली, थोड़ी ही देर में अधिकांश यात्री सो गए। चारों ओर नाकों से आती साँसों की हल्की सी मिली-जुली हवा भर गई। अब बस में जागते केवल तीन ही लोग बचे थे, धीरेन्द्र, ड्राइवर और खलासी।

जैसे ज्येष्ठ-आषाढ़ के मौसम में नदी-नालों में पानी बहने लगता है, वैसे ही ज्ञान की भूमि पर बैठा यह जागता हुआ यात्री भी भीतर से बहने लगा। उसके मन में अपनी ज़िंदगी की तस्वीरें उभरने लगीं।

"अपनी ज़िंदगी।"

यह सोचते ही उसे वह दिन याद आया जब पिताजी उसे गाँव के स्कूल में दाखिला कराने ले गए थे। ऐसा लगा मानो किसी पोखरे की पहली सीढ़ी पर पैर रखते ही जीवन की पहली घाट पर पहुँचा हो।

अक्षरों का ज्ञान और अंकों की समझ वहीं से शुरू हुई। भले ही आगे चलकर पूरी ज़िंदगी का पता न चला हो, पर वही अक्षर और अंक आज भी उसके मार्गदर्शक हैं।

वहीं तो चेतना का बीज पड़ा था। गाँव के लोअर प्राइमरी स्कूल से शुरू होकर वह पड़ोसी गाँव के मिडिल स्कूल, फिर हाई स्कूल होता हुआ अब पटना के कॉलेज में पहुँच चुका है। एक साल बाद यह चरण भी पूरा हो जाएगा और वह जीवन की अगली सीढ़ी पर चढ़ जाएगा।

प्रारंभ से ही वह हमेशा कुछ न कुछ नया सीखता रहा। लोअर प्राइमरी में पढ़ते हुए भी कुछ बातें मन में बसी रहीं, कुछ समय के साथ भूला दी गईं।

आगे की पढ़ाई में नए ज्ञान प्राप्त हुए तो पिछली कई बातें विस्तृत और स्पष्ट रूप में समझ में आने लगीं। कुछ भूली बातें फिर याद आ गईं, और कुछ नई बातें भूल भी गया।

खैर, जो याद रहा या भूल गया, वह सब बीती बात है। अब जो सामने है, वही वास्तविकता है, वही समझ है।

जैसे किसी बहती धारा में बालू की परत पर पैर रखते ही वह नीचे धँसने लगती है, और थोड़ा नीचे जाने पर जब ठोस धरती मिलती है, तब पैर जम जाते हैं। वैसे ही धीरेन्द्र को अपने भीतर अब जीवन की एक ठोस ज़मीन मिल गई है।

उसी आधार पर खड़े होकर उसने अपनी ज़िंदगी को नए दृष्टिकोण से देखना शुरू कर दिया है। जैसे गहरी खाई से पानी ऊपर लाने के लिए बर्तन की आवश्यकता होती है, और जैसा बर्तन होगा, उसी के अनुरूप पानी ऊपर आएगा। यदि बर्तन ठीक न हो, तो पानी उछल-उछल कर रास्ते में ही फैल जाएगा। जीवन भी कुछ वैसा ही है।

दुनिया भी दुनिया है, जितनी रंगीन है, उतनी ही संगीन भी। कोई कबीर की तरह धुनिया बनकर दुनिया को धुनता है, तो कोई धुनिया की धुन में खुद को ही पीटता चला जाता है।

उसी बीच बस में सोए हुए यात्रियों की साँसों से ऐसी आवाजें उठने

लगीं कि धीरेन्द्र को यह संदेह हुआ कि कहीं वह भी अन्य यात्रियों की तरह सो तो नहीं गया है। तभी गाड़ी ने तेज़ हॉर्न देना शुरू किया। ऐसा लगा जैसे अनजान रास्ते पर चलते हुए ड्राइवर के मन में आशंका की शंका समा गई हो।

हॉर्न की आवाज़ से एक यात्री की नींद टूट गई। वह बोला-

"ए खलासी, गाड़ी कहाँ पहुँची है?"

खलासी ने ज़ोर से उत्तर दिया-

"तुम्हें जाना कहाँ है?"

यात्री की नींद अभी पूरी नहीं खुली थी, इसलिए उसका मन चिड़चिड़ा था। उसने खलासी पर चिढ़ते हुए कहा-

"ऐसे क्यों बोल रहे हो?"

खलासी बोला-

"कौन-सी बात बोली है?"

उन दोनों की बहस से अन्य कई यात्रियों की भी नींद टूट गई। ड्राइवर और खलासी जानते थे कि अभी भोर का उजाला नहीं हुआ है, इसलिए बस के अंदर जितना शोर रहेगा, उतना ही वे खुद को जाग्रत और सुरक्षित महसूस करेंगे। लेकिन यात्रियों के लिए तो नींद अमूल्य थी, जिसे वे पूरब से आती ठंडी हवा की थपकियों का साथ खोना नहीं चाहते थे।

टूटी हुई नींद को जोड़ने की कोशिश में वही पहला यात्री फिर बोला-

"खलासी, समय कितना हुआ है?"

खलासी ने उत्तर दिया-

"तीन बज गए हैं, भोर हो चुका है।"

दूसरा यात्री, जिसकी नींद अभी-अभी टूटी थी, चिढ़कर बोला-

"ए खलासी, तुम इतने बेवकूफ़ हो कि अब तक ये भी नहीं समझ पाए कि तीन बजे की नींद सबसे गहरी होती है!"

खलासी बोला- "हम तो बस इतना ही कह रहे हैं कि पौने तीन बजे

से ही भोर होने लगती है। लगता है, तुम्हारा विचार अभी भी अढ़ाई बजे की रात पर अटका हुआ है।"

इतने में बस के लगभग सभी यात्रियों की नींद टूट गई। अब यह सवाल खड़ा हो गया कि कौन किसका पक्ष ले। किसी ने किसी का साथ नहीं दिया। सब पंच बन गए और एक स्वर में बोले-

"रात हो या भोर, यह किसी के कहने से थोड़े ही होता है। यह तो भगवान की लीला है। जिसको जैसे लगे, वह वैसा माने। कोई रात को सोकर बिताए, कोई रोते-पसीजते। लेकिन जिसके कारण यात्रियों की नींद टूटी, दोष उन्हीं का है, तुम दोनों का।"

इसी बीच कंडक्टर की भी नींद खुल गई। जागते ही वह हाँफता हुआ पहले अपनी जेबें टटोलने लगा। जब उसे यह विश्वास हो गया कि जेबें सुरक्षित हैं, तब उसने ड्राइवर से पूछा-

"जीवन, गाड़ी की रफ्तार ठीक है न?"

ड्राइवर ने शांत स्वर में कहा-

"हाँ।"

यह सुनकर कंडक्टर ने समय और स्थान का मिलान किया और यात्रियों को शांत करते हुए बोला-

"गाड़ी अभी आधे रास्ते पर है, इसलिए आप सब सोते रहिए।"

सुबह होते-होते बस प्रेमनगर स्टैंड पर रुकी। आकाश में चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। रात के अंधकार में डूबा गाँव धीरे-धीरे सूर्य की रोशनी के साथ जागने लगा था।

धीरेन्द्र ने अपना बैग संभाला, बस से उतरा और सीधे अपने घर की ओर बढ़ चला। केवल दस मिनट में वह घर पहुँच गया।

घर पहुँचते ही माँ पर नज़र पड़ी। धीरेन्द्र ने पैर छूकर आदर व्यक्त किया और पूछा-

"पिताजी कहाँ हैं?"

सुभावी बोलीं-

"खेत की ओर गए हैं।"

धीरेन्द्र ने फिर पूछा-

"और सब ठीक है न?"

माँ ने कहा-

"हाँ। पहले अपना झोला-झपटा रख दे। रास्ते की थकान है, भूख भी लगी होगी। कुछ खा ले।"

दरवाज़े के पास अपनी कोठरी में, जहाँ उसकी चौकी, बिछावन और बाकी सामान रखा था, धीरेन्द्र ने बैग रखा। फिर कपड़े बदलते हुए लुंगी पहन ली और माँ से कहा- "माँ, बस में इतने झटके खाए कि पूरा शरीर टूटकर चूर हो गया है। थोड़ा घूम-फिर आऊँ तो मन हल्का हो जाएगा। फिर नित्यकर्म से निपटकर नाश्ता कर लूँगा।"

धीरेन्द्र के मन में पटना से ही अपने लगाए पेड़ों पर लगे आमों को देखने की बेचैनी बनी हुई थी। यह उत्सुकता अब और भी बढ़ गई थी कि कब अपनी आँखों से देखे। अपने किए परिश्रम का फल देखने की चाह हर किसी के मन में होती है। जैसे परीक्षा परिणाम की प्रतीक्षा में विद्यार्थी की उत्सुकता कई गुना बढ़ जाती है, वैसे ही धीरेन्द्र की भी बेचैनी लगातार बढ़ रही थी।

दरवाज़े से बाहर निकलते हुए वह बोला- "माँ, मैं पहले आमों का बाग देखने जा रहा हूँ।"

'आम' शब्द सुनते ही सुभावी का मन वैसे ही खिल उठा जैसे माता-पिता अपने बच्चों की उपलब्धि पर प्रसन्न हो जाते हैं।

उन्होंने कहा- "बेटा, आम तो बहुत ही बढ़िया लगे हैं और लदराए हुए फल आए हैं।"

माँ की बात सुनकर धीरेन्द्र की उत्कंठा और भी बढ़ गई। वह बोला-

"सब पेड़ों पर फल आए हैं या सिर्फ कुछ पर?"

सुभावी ने उत्तर दिया- “सभी पेड़ों में फल लगे हैं- तुम्हारे लगाए हुए पेड़ों में भी, और पहले से लगे पेड़ों में भी खूब आम आए हैं।”

दरवाज़े से पाँच बीघा पूरब, उस खेत में जहाँ धीरेन्द्र ने दो कट्ठे ज़मीन में अपने विचार से पाँच आम के पेड़ और अन्य फलों के वृक्ष लगाए थे, उसका मन सबसे पहले उन्हीं पाँच पेड़ों पर अटक गया। आगे लगे अन्य फलदार वृक्षों पर उसकी नज़र ही नहीं गई। सिंदुरी गुलाबख़ास और चिकने बंबई किस्म के आम देखकर उसका मन प्रसन्न हो उठा। यह उसके अपने हाथों से लगाए गए पेड़ों का पहला फल था।

बाप-दादाओं की यह परंपरा रही है कि किसी भी पौधे या पेड़ का पहला फल पहले किसी साधु-संत या महात्मा को अर्पित किया जाए, फिर स्वयं उसका उपभोग किया जाए। अयाची मिश्र ने भी अपने श्रम का पहला फल इसी रीति से अर्पित किया था।

धीरेन्द्र ने भी माँ को यह करते हुए कई बार देखा था कि जब किसी पौधे पर पहला फल आता, तो वह पहले ठाकुरबारी में चढ़ाया जाता।

वह खुद भी कई बार खेत से पहला फल तोड़कर गाँव के महादेव स्थान पर चढ़ाने गया था। पूरी रात की बस-यात्रा की थकान उस क्षण जैसे मिट गई। उसे जगमोही के आम खाने के निमंत्रण की याद हो आई। जैसे ही मन में जगमोही का चेहरा उभरा, अनेक विचार एक साथ आने लगे।

सबसे पहले उसने सोचा कि जब जगमोही आएगी, तब वह उसे अपने लगाए हुए पेड़ और बगीचा दिखाएगा, और इस वर्ष के पहले फल का स्वाद भी चखाएगा।

धीरेन्द्र की सोच अब जगमोही के रूप और स्वभाव तक पहुँच गई।

क्या उसे अभी ब्रह्मचारिणी नहीं कहा जा सकता? एक वर्ष बाद कॉलेज से निकलकर उसका विवाह होगा, एक नया परिवार बनेगा, और जीवन एक नई दिशा में आगे बढ़ेगा।

लेकिन अब तक, जो भी उसका जीवन, उसका रूप, और उसका स्वभाव रहा है, वह शिक्षा और परिवार दोनों के बीच संतुलन के साथ चला

है।

माता-पिता की देखरेख में रहते हुए वह परिवार का हिस्सा बनी रही और अपने खाली समय में घर के कामों में भी हाथ बँटाती रही। जैसे धीरेन्द्र की दृष्टि में परिवार माता-पिता और बहन के साथ जुड़ता है, वैसे ही माँ, पिता और बहन की नज़र में भी जगमोही अब परिवार का अभिन्न अंग बन चुकी है।

यही तो जीवन है। विवाह के बाद परिवार बदलते ही जीवन अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। इसमें जगमोही को किस कर्म का फल मिलेगा, यह सोचकर धीरेन्द्र का मन भारी हो गया। वह विचारों की दुनिया में भटकने लगा।

सोचते-सोचते एक और बात मन में उठी कि आज का सामाजिक परिवेश ऐसा हो गया है कि माता-पिता भी अपनी संतान की सेवा में ही खो जाते हैं।

दहेज का दानव, समाज को इस रूप में जकड़ चुका है कि एक ही कोख के होने पर भी बेटी का महत्व कम आँका जाता है। वह परिवार में एक बोझ समझी जाती है, और माता-पिता के सिर पर भार प्रतीत होती है।

इसलिए आवश्यक है कि बेटा और बेटी, दोनों को मनुष्य के रूप में समान दर्जा मिले और उन्हें समान रूप से जीवन जीने का अधिकार प्राप्त हो।

हर परिवार की रचना स्त्री और पुरुष के संबंध से होती है। इसी परस्पर साहचर्य से संसार की सृष्टि चलती आई है। लेकिन जब आज यह दानव-सी समस्या समाज पर हावी हो गई है, तो कहीं न कहीं इसकी जड़ें समाज की दानवी प्रवृत्तियों में ही छिपी हैं। पर इसे देखता कौन है?

जब स्वयं को 'श्रेष्ठतम प्राणी' कहने वाला मनुष्य ही अपने ही समाज के बनाए ब्रह्मफाँस में फँसा हुआ हो, तो वहाँ जीवन की गति कैसी हो सकती है?

जब गति ही दिशाहीन हो जाए, तो जीवन ‘जीवन’ रहकर भी कैसे

आगे बढ़ सकेगा?

विचारों की दुनिया में धीरेन्द्र जितना भटकता गया, मन उतना ही थककर धड़कने लगा। न आगे कुछ स्पष्ट दिख रहा था, न पीछे। चारों ओर केवल अंधकार ही अंधकार। मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था।

निकलता भी कैसे? पास कोई नहीं था जिससे वह रास्ता पूछता या अपने मन की पीड़ा बाँटता। उसी समय उसके पिता, जीवेंद्र, अपने पुराने बगीचे की सैर से लौटते हुए नज़दीक आ रहे थे।

जैसे ही थोड़े पास पहुँचे, धीरेन्द्र ने प्रणाम करते हुए कहा-

"पिताजी, इस बार तो नए आम...।"

जीवेंद्र के मन में था कि पहले बेटे के पटना प्रवास की बात पूछें, लेकिन धीरेन्द्र के चेहरे पर उत्साह देखकर उन्होंने पहले उसी बात का उत्तर देना उचित समझा। वे बोले-

"बेटा, आम तो नए नहीं हैं। ये तो पहले भी आते रहे हैं। लेकिन जगह नई है, और पेड़ भी नए हैं, जो नए हाथों से लगाए गए हैं।"

पिता की बात सुनकर धीरेन्द्र के मन का कुहासा जैसे एक क्षण में छँट गया। कुहासा हटते ही उसके भीतर यह विचार जगा कि जितने भी नए पेड़ लगे हैं, वे किसी न किसी पुराने पेड़ की कलम ही तो हैं। हाँ, एक खास बात यह है कि मौसम की अवधि को ध्यान में रखकर अगर आम का चयन किया जाए, तो फल क्रमशः मिलते रहेंगे।

धीरेन्द्र के मन में यह विचार पहले से था कि हमारे यहाँ प्रायः ऐसे पेड़ अधिक हैं जिनमें एक ही मौसम में आम लगते हैं। वे एक साथ फूलते, फलते और पकते हैं, जिससे उपयोग की अवधि बहुत कम रह जाती है।

लेकिन यदि अगता, मध्य और पिछात- यानी शुरुआती, बीचवाले और पछातिया- जैसे तीन अलग-अलग मौसमों को ध्यान में रखकर फल चुने जाएँ, तो परिणाम भी वैसा ही मिलेगा, जैसा जगन्नाथपुरी में बारहों महीने धान उपजता है। ठीक उसी तरह, तीन सौ पैंसठ दिनों में फल भी क्रमशः मिलता रहेगा।

वही तो हुआ, एक समस्या का सुंदर समाधान। धीरेन्द्र को शांत देखकर जीवेंद्र ने कहा-

"बेटा, पटना में सब ठीक-ठाक रहा न? आम खाने की छुट्टी तो मिल गई होगी?"

धीरेन्द्र ने कहा-

"हाँ, डेढ़ महीने की छुट्टी मिली है।"

मुस्कुराते हुए जीवेंद्र बोले-

"अपने लगाए पेड़ हैं। खुद भी खाओ और अपने रिश्तेदारों और साथियों को भी खिलाओ।"

'साथी' शब्द सुनते ही धीरेन्द्र का मन एक पल में फिर जगमोही की ओर चला गया, परन्तु कुछ बोला नहीं।

पिता और पुत्र दोनों साथ-साथ घर की ओर चल पड़े। ❑

5

19 जून, शनिवार की शाम छह बजे, रामलखन जैसे ही दफ्तर से लौटे, पत्नी से बोले-

"सुबह चार बजे की बस पकड़कर कल प्रेमनगर जाना है। इसलिए सारी तैयारी आज ही कर लो।"

'सारी तैयारी' सुनकर सुवासिनी के मन में आश्चर्य उमड़ आया। बारह साल बाद मायके जाना है, वह भी खाली हाथ? ऐसा कैसे हो सकता है?

चार भाई-बहनों में सुवासिनी बीच की संतान थी। उससे बड़े थे हरिनाथ, फिर दीनानाथ और सबसे छोटे थे श्याम। हरिनाथ और दीनानाथ अपनी पत्नियों और बच्चों के साथ बेंगलुरु में रहते थे, जबकि श्याम गाँव में ही था। तीनों भाई बी.ए. पास थे। पिता के रहते ही दोनों भाई, हरिनाथ और दीनानाथ, बेंगलुरु चले गए थे। पिता के निधन के बाद दोनों ने वहीं अपने-अपने परिवार बसा लिए और अब उनके अपने मकान भी बन चुके थे।

राधारमण दस बीघा ज़मीन के मालिक एक समृद्ध किसान थे। गाँव के प्रतिष्ठित किसान परिवारों में उनका नाम लिया जाता था। वे अन्न की खेती के साथ-साथ फलों और बाँसों के झुरमुटों की भी खेती किये थे। उनके पास दो भैंसें भी थीं। जब राधारमण पचास की उम्र पार कर रहे थे, तभी उनके सबसे छोटे बेटे श्याम ने बी.ए. पास किया था। बचपन से ही श्याम घर के कामकाज और खेती-बाड़ी में पिता का सहयोग करता आ रहा था, जिससे उसे व्यावहारिक रूप से खेती और पशुपालन का पूरा ज्ञान हो गया था।

राधारमण और उनकी पत्नी बुधनी इस बात को लेकर अक्सर चिंतित रहते थे कि बड़े परिवार और सामाजिक प्रतिष्ठा की जो परंपरा उन्होंने बनाए रखी है, वह आगे भी बनी रहनी चाहिए। एक दिन राधारमण ने श्याम से

कहा-

“बेटा, बड़े दोनों भाई तो परदेस में बस चुके हैं। अगर तुम भी नौकरी के लिए बाहर चले जाओगे, तो यह परिवार और समाज, दोनों ही बिखर जाएँगे। न घर बचेगा, न सामाजिक प्रतिष्ठा।”

पति की बात से सहमति जताते हुए माँ बुधनी ने मातृत्व की भावना से कहा-

“बेटा, भगवान ने चार संतानें दी हैं तो कुछ सोचकर ही दी हैं। अगर एक ही दी होती, या चार में से तीन मर गए होते, या सब के सब नौकरी के लिए बाहर चले गए होते, तो यह परिवार..?”

माँ की बात ने बी.ए. पास श्याम के मन को झकझोर दिया। उसने अपने भविष्य के साथ-साथ परिवार के भविष्य की भी एक झलक देखी। अचानक उसका मन बेचैन हो उठा, देह में सिहरन दौड़ गई और उसके होंठों से अनायास निकला-

“माँ।”

बेटे के मुँह से ‘माँ’ शब्द सुनकर राधारमण के मन में भी पितृभाव जाग उठा। उस भाव के साथ ही उनके भीतर एक लहर-सी दौड़ गई। उन्हें लगा कि जब कोई दुर्घटना या संकट आता है, तो इंसान भगवान का नाम थोड़े ही लेता है वह माता-पिता का नाम लेता है-

“माँ गे माँ, बाप रे बाप।” वही माता-पिता तो जीवन के अंतिम किनारे तक साथ निभाते हैं। शायद श्याम भी अब उसी सीमा पर पहुँच गया है। इसलिए जहाँ वह खड़ा है, वहीं के विचार उसके कल्याण का कारण बनेंगे।

राधारमण के मन में यह विचार भी आया कि जैसे कोई कलकत्ता के चौरंगी चौक पर भटक जाए और घर का रास्ता न देख पाए, वैसे ही अगर श्याम भी जीवन की राह में भटक गया तो क्या होगा? ऐसे में उसे चौरंगी चौक का रास्ता दिखाना होगा, न कि गाँव-घर का।

श्याम को समझाते हुए राधारमण बोले- “बेटा, जो बात तुम्हारी माँ ने कही है, वह केवल उनका विचार नहीं है, यह दुनिया का विचार है। दुनिया

जानती है कि जैसे माता-पिता अपने बच्चों को जीवन देते हैं, वैसे ही वृद्ध माता-पिता के जीवन की रक्षा करना संतान का कर्तव्य होता है।”

पिता की भावना में डूबकर श्याम बोला-

“इसे कौन नकार सकता है।”

श्याम की यह बात सुनकर राधारमण के मन में भाव उमड़ पड़ा कि श्याम ने तो मानो श्रवण कुमार की तरह सेवा का भार अपने कंधों पर उठा लिया है। उनका मन पिघल गया। वह सोचने लगे कि इस बेटे को भी परिवार और समाज के बीच रहना है। इसलिए जीवन की उस धारा में तैरने के लिए उसे विवेक (सुबुद्धि) और सत्कर्म (सुकृति)- दोनों को अपनाना होगा।

उन्होंने मन ही मन विचार किया कि जीवन में जो उपयोगी है, उसका अपना महत्व है, लेकिन जीवन के अनुकूल कर्तव्य गढ़ना उससे कहीं अधिक आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति केवल दूसरों की नकल करता है और अपना विवेक नहीं लगाता, तो वह किसी न किसी मोड़ पर सामाजिक परिस्थितियों से टकरा ही जाता है।

थोड़ी देर सोचने के बाद राधारमण ने संयत स्वर में श्याम से कहा-

“बेटा, जैसे दुनिया में सब कुछ अच्छा नहीं होता, वैसे ही सब कुछ बुरा भी नहीं होता। इसी अच्छे-बुरे के बीच असंख्य जीव-जंतु और करोड़ों मनुष्य रहते हैं। इसलिए जीवन जीने के लिए जितनी समझदारी चाहिए, उतना ही जरूरत आत्म नियंत्रण की भी है। कई लोग अपनी ही बुद्धि के पीछे पड़कर अपना जीवन बिगाड़ लेते हैं।”

राधारमण ने अपनी बातों को सतर्कता से ढँकने की कोशिश की, लेकिन नवचेतना से जाग्रत श्याम मन ही मन पिता की हर बात को समझ गया और मौन रहा। उसने पिता के विचारों को आदर्श आदेश मानते हुए कोई उत्तर नहीं दिया। बस इतना ही बोला-

“आप जो भी आदेश देंगे, वह मेरे लिए सिरोधार्य है।”

श्याम ने गाँव में रहने का निर्णय स्वीकार कर लिया और नौकरी-चाकरी के झंझट में नहीं पड़ा। कॉलेज जीवन के दौरान ही उसे यह आभास

हो गया था कि नौकरी, जीवन की स्वतंत्रता में बाधा बन सकती है। फिर भी, समाज की बहती धारा के प्रभाव में उसके विचार बिखरे और अस्थिर हो गए थे। लेकिन पिता के आशीर्वचनों ने उनमें एक नई चेतना जगा दी, मानो उसके भीतर कोई जागरण प्रारंभ हो गया हो।

चाय पीने के बाद रामलखन ने पत्नी से कहा-

"प्रेमनगर तुम्हारा मायका है। यहाँ जैसे तुम्हें माता-पिता, देवर-ननद और रिश्तेदार अपने लगते हैं, वैसे ही मुझे भी ससुराल में अपने लगते हैं। इसलिए वहाँ क्या करना है, इसका पूरा अधिकार तुम्हारा है। तुम जो उचित समझो, वही करना। चलो अब, बाजार का काम निपटा लें और बस का टिकट भी कटवा लें।"

पति की बात सुनकर सुवासिनी सोच में डूब गई। उसने मन ही मन सोचा-

"आज अगर माता-पिता जीवित होते, तो कपड़े-लत्ते और खाने के लिए खीर या हलुवा बनाकर ले जाती। पर अब वे नहीं रहे। भाई-भाभी अभी जवान हैं और मैंने पहले ही मायके की सारी सम्पत्ति उन्हें सौंप दी है। हाँ, तीनों बच्चों के लिए कपड़े और थोड़ी मिठाई अवश्य ले लूँगी...।"

वह अपने मन में विचार करती रही, लेकिन मुँह से कुछ नहीं बोली। तभी बीच में जगमोही बोल पड़ा-

"पिताजी, मामा के तीनों बच्चे स्कूल जाते हैं, इसलिए उनके लिए कपड़े तो लेंगे ही। साथ ही, महीने भर जहाँ रहेंगे और उन्हें पढ़ाएंगे-लिखाएंगे, उसके लिए किताबें, कॉपियाँ और कलम भी लेनी होंगी।"

जगमोही के सुझाव से रामलखन पूरी तरह सहमत हो गए और सब लोग बाज़ार की ओर निकल पड़े।

बाज़ार के सारे काम निपटाने के बाद, बस के टिकट कटवाकर उन्होंने डेरा से बस स्टैंड तक पहुँचने के लिए एक टेम्पो भी तय कर लिया। बाज़ार से लौटते हुए रास्ते में सबके मन में एक ही बात चल रही थी कि बस सुबह चार बजे खुलेगी, इसलिए रात दो बजे ही उठकर तैयारी शुरू करनी होगी।

तैयार होने में समय तो लगता ही है- नित्यकर्म, सामान का ख्याल और खाने-पीने की व्यवस्था, सब कुछ करना होता है। आखिर बिना खाए-पीए घर से कैसे निकला जाए? जब सफर दूसरों के हाथ, यानी बस में करना हो, तो कुछ भी निश्चित नहीं होता। अगर रास्ते में कोई परेशानी आ गई, तो वहाँ पानी का एक घूँट भी कौन देगा? आठ घंटे की यात्रा है, इसलिए उतने समय का जीवन अपने ही हाथों सँभाल कर रखना पड़ता है।

साढ़े तीन बजे टेम्पोवाला डेरा के सामने हॉर्न बजाते पहुँचा। सब लोग पूरी तैयारी के साथ तैयार थे। अचानक रामलखन के शरीर में एक स्फूर्ति दौड़ गई। किसी नई दुल्हन के जमाई की तरह नहीं, बल्कि एक जिम्मेदार अभिभावक की तरह। उन्हें भलीभाँति एहसास था कि वे घर से बाहर निकल रहे हैं, और ऐसे समय में रास्ते की स्थिति को लेकर सावधानी बरतना ज़रूरी है।

बस की यात्रा आखिर बस की ही यात्रा होती है। कोई उपर लगे टीवी पर फिल्में देखते-सुनते चलता है, तो कोई लोहे और लकड़ी से बने उस वाहन में सतर्कता से बैठा रहता है। लेकिन दुनिया जितनी दिखावे से चलती है, उतनी सिखावे से कहाँ चलती है? फिर भी, सब कुछ नियोजन के अनुसार हुआ। जैसा कार्यक्रम रामलखन ने बनाया था, वैसा ही हुआ, साढ़े तीन बजे अँधेरे में पूरा परिवार प्रेमनगर के लिए रवाना हो गया।

अब यह मोबाइल का युग था। इसलिए न केवल सुवासिनी के भाई श्याम के परिवार को, बल्कि उनके दियाद और पड़ोसियों को भी उनके आने की खबर पहले से ही मिल चुकी थी। जैसे ही किसी के आने की सूचना मिलती है, घर की औरतें आँगन और द्वार सँवारने लगती हैं, वैसे ही घर के मर्द भी द्वार-दरवाज़े पर सजग हो जाते हैं। प्रेमनगर वालों को बस की समय-सारिणी भी मालूम थी, बस साढ़े ग्यारह बजे से पहले नहीं पहुँचेगी, और देर हुई तो उससे भी बाद में। इसी कारण ज़्यादातर लोग ग्यारह बजे से ही कान लगाए बैठे थे, क्योंकि हर बस के हॉर्न की आवाज़ उन्हें सुनाई दे ही जाती थी। अब तक सुवासिनी के मायके आने की खबर धीरे-धीरे, कानों-कान, केवल रिश्तेदारों और पड़ोसियों तक ही सीमित थी। लेकिन जब सुबह के

दस बजे राधा दादी, सीता दीदी, शुभनी भौजी और दुखनी काकी, घास छीलने के बाद पोखरे के पार पीपल के पेड़ के नीचे बैठकर सुवासिनी के आने की चर्चा करने लगीं, तभी यह बात सामाजिक रूप से फैलने लगी।

तेज़ धूप से झुलसी हुई चारों महिलाएँ पीपल के नीचे आकर सुकून लेने लगीं। हालाँकि वे खेत-खलिहान के काम से थकी हुई थीं, लेकिन धूप और उमस की वजह से शरीर में इतनी गर्मी भर गई थी कि पसीना मुँह तक पहुँचकर नमक जैसा स्वाद छोड़ रहा था। इसलिए उन्होंने जल्दी-जल्दी अपने माथे का पसीना पोंछा और बिछी हुई दूब की दरी पर बैठ गईं। जैसे-जैसे शरीर ठंडा हुआ, वैसे-वैसे बातचीत भी गहराने लगी।

शुभनी भौजी और दुखनी काकी उम्र में समान थीं, वहीं राधा दादी और सीता दादी भी एक ही पीढ़ी की थीं। सामाजिक वंश के हिसाब से राधा दादी और सीता दादी, शुभनी और दुखनी से एक सीढ़ी ऊपर मानी जाती थीं। इसलिए दोनों का सम्मान गाँव में तय-सा था।

धीरे-धीरे चर्चा का रुख सुवासिनी के आने के समय की ओर मुड़ गया। शुभनी भौजी और दुखनी काकी के बीच मानो शास्त्रार्थ शुरू हो गया। विषय था, सुवासिनी के आने का सही समय क्या है। आखिर बारह वर्षों बाद वह अपने मायके लौट रही थी।

शुभनी भौजी ने कहा-

“सुवासिनी दाई तो कोई सीता मइया नहीं हैं, जो बनवास में चली गई हों!”

शुभनी भौजी के पति, राममनोहर, बड़े किस्सागो व्यक्ति थे। वे आधी रात तक शुभनी को शास्त्र और पुराणों की नित्य नई कथाएँ सुनाया करते थे। वैसे ही, दुखनी काकी के पति सुखबा काका भी कुछ कम नहीं थे। गाँव में उनके धार्मिक किस्से भी मशहूर थे। शायद यही वजह थी कि शुभनी भौजी और दुखनी काकी दोनों ही अपने-अपने पतियों के प्रभाव में कुछ-कुछ शास्त्री बन गई थीं।

पर राधा दादी और सीता दादी के लिए यह सारा वाद-विवाद व्यर्थ

था। उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं था कि कौन क्या कह रहा है। वे दोनों पत्थर की मूर्तियों-सी स्थिर थीं, जिन्हें पानी से धोया जाए, तब भी उनका स्वरूप वैसा ही बना रहता है। वे बलुई मिट्टी की मूर्तियों की तरह नहीं थीं, जो एक लोटा पानी पड़ते ही ढह जाएँ।

उनके मन में यह साफ धारणा थी कि ये दोनों भौजियाँ अपनी-अपनी समझ में उलझी रहें, तो बेहतर है। वे क्यों बीच में पड़ें? आखिर कल से सबको फिर साथ रहना है, खेतों में काम भी करना है और बातें भी करनी हैं। आज की चर्चा आज ही समाप्त होनी चाहिए।

इसी बीच, दुखनी काकी ने शुभनी भौजी की ओर देखते हुए पलटकर कहा-

“सीता मैया जंगल में कितने दिन रहीं, इसका अंदाज़ा है तुम्हें?”

शुभनी भौजी भी शास्त्रीय लय में आ चुकी थीं। बोलीं-

“पहले यह बताओ कि राम, लक्ष्मण और सीता को गाँव की सीमा पार करने में ही कितने दिन लग गए थे!”

दुखनी काकी तो खिस्सकर की ही घरवाली हैं। वह थोड़ा आगे झुककर बोलीं-

“गंगा पार करने में उन तीनों व्यक्तियों को कितने दिन लगे थे, इसका अंदाज़ा है तुम्हें?”

किसी के पास जवाब नहीं था, लेकिन सवालों की परतें चढ़ती जा रही थीं। यह देखकर राधा दादी और सीता दादी भी चुप नहीं रहीं। दोनों एक साथ बोल पड़ीं,

“इतना गपशप कि खाने-पीने की सुध ही भूल जाओ! महीने भर पुरानी बातों को आज ही निबटा दोगी क्या? चलो, नहाने का समय हो गया।”

चारों अपने-अपने आसन छोड़कर खड़ी तो हो गईं, पर शुभनी भौजी और दुखनी काकी की भी बतकही थम ही नहीं रही थी। उनकी नोकझोंक सुनकर राधा दादी फट पड़ीं-

"तुम दोनों की यह गपैहिया बीमारी तब तक नहीं जाएगी जब तक बपैहिया से भेंट नहीं हो जाएगी!"

दुखनियों काकी तुरंत पलटकर बोलीं-

"तुम लोग तो अब बूढ़ी हो चली हो। तुम्हारा जो दिन चल रहा है, सो ठीक है। मगर हम दोनों को तो अभी बहुत दिन इस पीपल के पेड़ तले बैठकर जीवन-मरण की बातें करनी हैं।"

घर का रास्ता अलग हो े सभी बिखर गईं।

दोपहर अभी चढ़ी नहीं थी, इसलिए श्याम पहले ही अपनी बहन, बहनोई और भांजियों की अगवानी की तैयारी में लग गया। वह दरवाज़े पर बैठकर बस के हॉर्न का इंतज़ार करने लगा। बस का ख़याल आते ही उसे सुवासिनी की याद आ गई। बहन का नाम ज़ेहन में आते ही दिल में बेचैनी भर गई। कैसी दुर्भाग्य की मारी निकली सुवासिनी! भगवान की मर्ज़ी भी सभी के लिए एक-सी कहाँ होती है।

हम लोगों को अपने बच्चों के ज़्यादा या कम होने से कोई फर्क नहीं पड़ता, पर मनुष्य आखिर 'मनुष्य' है। कोई बिना कोशिश के भाग्यशाली कहलाता है, और कोई पूरी मेहनत के बाद भी ठोकर खाता है। भगवान किसी को बेटा देते हैं, तो वह घर-घराड़ी का मार फँसता है। किसी को बेटी देते हैं, तो घराड़ी बिकवाते हैं। यह भला कैसा न्याय है?

कहने को तो बेटा-बेटी बराबर हैं, लेकिन सिर्फ कह देने से बराबरी नहीं हो जाती। माता-पिता के मरने के बाद बेटे को तेरह दिन से लेकर तीन साल तक का अधिकार मिलता है, पर बेटी को क्या मिलता है? सिर्फ तीन दिन। जैसे वह मिट्टी की मूर्ति हो, जिसका कंधा झाड़ दो और बात खत्म। न बार-बार के संस्कार, न अधिकार, बस औपचारिकता भर।

श्याम के भीतर गुस्से की आग और तेज़ होती गई। भगवान जो करते हैं, उसमें भला ही छिपा होता है, लेकिन समाज जो मायके और ससुराल के बीच उलझनें और जाल बिछाकर औरत को फँसाता है, उसका जिम्मेदार कौन है? इन रीतियों को ढोता कौन है? यह रोग हर घर में है, बस इलाज

ऐसा है कि कोई हल्का रह जाता है और कोई भारी हो जाता है, फर्क बस इतना भर है।

इसी बीच बस की गड़गड़ाहट से टोले-पड़ोस में हलचल मच गई। चारों ओर से एक ही आवाज़ उठी-

“बस आ रही है! इसी बस से सुवासिनी उतरेगी।”

टोले के बच्चे दौड़ते हुए बस स्टैंड की ओर भागे। उनके पीछे-पीछे, मानो ट्रेन के गार्ड की तरह, श्याम भी चल पड़ा। आठ घंटे की लंबी यात्रा ने रामलखन और परिवार के अन्य सदस्यों के चेहरे पर थकान की परछाईं बिखेर दी थी।

जैसे ही सुवासिनी दिखाई दी, श्याम की नज़र उस पर टिक गई। बहन को वर्षों बाद देखकर उसका मन भर आया। उसी समय जगमोही ने आगे बढ़कर मामा श्याम के पाँव छुए। श्याम ने आशीर्वाद दिया, और तभी उसकी निगाह रामलखन पर पड़ी। बहनोई और साले के बीच नमस्कार का आदान-प्रदान हुआ। फिर सब लोग घर की ओर रवाना हो गए।

हर व्यक्ति की अपनी दृष्टि थी, अपना भाव, अपना मनोविज्ञान, और सबने प्रेमनगर की मिट्टी पर अपने-अपने कदम टिकाए। जैसे हर किसी की सोच, जीवन और अनुभव अलग होते हैं, वैसे ही उन्हें अपने-अपने साथी भी मिल जाते हैं।

जगमोही को प्रेममोही मिली। चेहरा पूरी तरह पहचान में न आने के बावजूद, प्रेममोही को अनुमान था कि यह वही जगमोही है, जिसकी कॉलेज की चर्चा वह पहले सुन चुकी थी। जगमोही की उम्र और कॉलेजिया रूप देखकर प्रेममोही ने स्नेहपूर्वक मुस्कराते हुए पूछा-

“बहन, नगर कैसा लगा?”

छोटी बहन के स्नेह में कही गई बात पर जगमोही ने थकान भरे स्वर में मुस्कराते हुए जवाब दिया-

“जैसा नाम है, वैसा ही।”

शब्दों का खेल तो हमेशा से चलता आया है, कभी अर्थ के भार से दबा हुआ, तो कभी एकदम हल्का और निश्छल। बातों-बातों में जगमोही और प्रेममोही के बीच आत्मीयता की एक डोर बँधने लगी, और संवाद की दिशा खुलती चली गई।

कथोपकथन के दौरान जगमोही ने सहज भाव से पूछा-

“इस गाँव के एक लड़के के बारे में सुना है जो पटना में पढ़ता है, उसका घर कहाँ है?”

प्रेममोही को गाँव की पूरी जानकारी थी। उसने उत्तर दिया-

“धीरेन्द्र नाम है उसका, और उसका घर दूसरे टोले में है।”

जगमोही ने फिर पूछा-

“उसका परिवार कैसा है?”

प्रेममोही बोली-

“गाँव में उन्हें संपन्न परिवार माना जाता है।” ❑

6

वैसे, मोबाइल पर धीरेन्द्र को जगमोही ने यह बात तो कह दी थी कि बीस जून को प्रेमनगर पहुँच ही जाऊँगी। लेकिन प्रेमनगर की सीमा में कदम रखते ही यह बात धीरेन्द्र के मन से उतर गई। भूलता भी क्यों नहीं! आखिर प्रेमनगर कोई साधारण जगह, भी तो नहीं। यहाँ तो घड़ी-पहर की बातें छोड़िए, लोग पूरी ज़िंदगी तक की बातें भूल जाते हैं..!

फिर भी सब कुछ नहीं मिटा, सिर्फ उतना ही धुँधला पड़ा जितना दो समाजों के रिश्ते दो अलग-अलग युगों की सीमा पर आकर ठिठक जाने पर हो जाते हैं।

अदालत में बहस करते वकील की तरह, जहाँ उसके सामने दोनों पक्षों की पूरी फाइल खुली रहती है और न्यायालय भी यह समझता है कि निर्णय दो धाराओं में बँटा है, इसलिए पलड़ा जिधर भारी हो, उस ओर हल्का-सा झुकना ही पड़ेगा। कुछ यही हाल धीरेन्द्र और जगमोही दोनों का हो गया है।

एक ओर है मिथिला का गाँव, जहाँ छोटी-छोटी बातों की अकड़ इतनी तीखी होती है कि उससे बड़े-बड़े झंझावात पैदा हो जाते हैं। कुत्ते-बिल्ली के झगड़े में लोग मारपीट तक पर उतारू हो जाते हैं। खून-खराबा होता है और मुकदमे सालों तक चलते रहते हैं। इसी के मध्यस्थ जगमोही और धीरेन्द्र के विचार भी तो उलझे हैं।

यह कहना भी ठीक नहीं कि शहर की सोच उनके भीतर नहीं पहुँची, वह भी कहीं न कहीं अपने असर के साथ मौजूद है।

अंततः संयोग बन ही गया। जब जगमोही मामा के घर पहुँचीं, तो मन हुआ कि धीरेन्द्र को खबर दे दें। बैठक से उठकर मुँह-हाथ धोने का बहाना बनाकर चपाकल की ओर गईं और मोबाइल से धीरेन्द्र को कॉल किया।

बोलीं- “धीरेन्द्र बाबू, मातृक के पास पहुँच गई हूँ।”

धीरेन्द्र ने पूछा-

“गाड़ी-बस की यात्रा ठीक रही क्या?”

जगमोही बोलीं-

“यात्रा तो ठीक ही रही, पर...।”

धीरेन्द्र ने फिर पूछा-

“पर क्या?”

जगमोही कुछ कहने ही वाली थीं कि अचानक ठहाका लगाकर हँस पड़ीं। उनकी हँसी सुनकर धीरेन्द्र चौंक गया। वह सोचने लगा कि जब द्वार पर पहुँचने तक कोई कमी महसूस नहीं हुई, तो फिर हँसी क्यों?

उसने दोबारा पूछा-

“हँसी क्यों आई? कुछ कहो तो। अगर कोई कमी हो तो उसे सुधार लूँगा, अगर कुछ छोड़ने जैसा हो तो छोड़ दूँगा, और अगर कुछ जोड़ने जैसा हो तो उसे जोड़कर पूरा कर दूँगा।”

उसी समय जगमोही के मोबाइल पर पटना से एक और कॉल आने लगी। यह कॉल उसकी एक सहेली की थी। धीरेन्द्र से हो रही बातचीत को कुछ पल के लिए रोकते हुए वह बोली-

“एक सहेली का फोन पटना से आ रहा है, इसीलिए अभी केवल इतना ही कि बस स्टैंड में आपको नहीं देखी...।”

मोबाइल की लाइन तो कट गई, लेकिन जगमोही की बात की चोट धीरेन्द्र के मन में उतर गई। उसकी स्थिति वैसी हो गई जैसे आकाश में उड़ते पक्षी को अचानक तीर लग जाए। बेचैन मन में यह प्रश्न उठा कि क्या जगमोही का संकेत व्यर्थ था?

सच तो यही है कि यदि मन में थोड़ी भी आत्मीयता उपज चुकी हो, तो इतना तो पूछा ही जा सकता था कि अनिश्चितताओं से भरी इस यात्रा में वह कैसी रही होगी! प्रेमनगर में ऐसे कितने लोग होंगे ही जो उसे पहचानते

हों? गाँव के बुज़ुर्ग शायद भूल चुके होंगे, और नए लोग उसे जानने से रहे।

चाहे परिचय अल्पकालीन ही क्यों न रहा हो, लेकिन एक समझदार व्यक्ति समाज में अपनी गंभीरता और उत्तरदायित्व को सिद्ध करने की इच्छा रखने वाला पवुद्ध व्यक्ति न खुद को बनाना चाहता हूँ।

विचारों में उलझे धीरेन्द्र को ऐसा महसूस हुआ मानो कोई अदृश्य पथ उसे किसी बगिया में ले आया हो, जहाँ एक पका हुआ आम का पेड़ खड़ा था। उस पर खट्टे आम भी थे और मीठे भी। परन्तु धीरेन्द्र के हाथ जो आम आया, उसका स्वाद करपूरिया जैसा निकला, न अधिक खट्टा, न पूरी तरह मीठा।

यह अनुभव वैसा था जैसे वह सोच रहा हो कि जिस तरह से वह समाजशास्त्र का विद्यार्थी है, वैसे ही जगमोही भी है। तो क्यों न प्रायश्चित की भावना के साथ दोनों मिलकर एक विचारशील राह चुनें? यह संभव है कि समाज इसे अनुचित माने और उनके बीच एक दीवार खड़ी कर दे। पर वह दीवार तोड़ी भी जा सकती है, और समय आने पर सुधारी भी जा सकती है।

परोपट्टा क्षेत्र में प्रेमनगर सबसे बड़ा गाँव है, भौगोलिक दृष्टि से भी समृद्ध, और नाम के अनुरूप स्वभाव में भी। प्रेम तो प्रेम होता है। वह किसी अकेले खड़े आम या कटहल के पेड़ की तरह नहीं होता; वह बाँस और खरही की तरह फैलता घना और जीवंत है।

जैसे कोई आम का प्रेमी अपनी बगिया में आम लगाता है और कोई जामुन-प्रेमी जामुन, वैसे ही हर व्यक्ति उस ओर बढ़ता है जहाँ उसे आकर्षण महसूस होता है। जब किसी वस्तु या गुण के प्रति आकर्षण बढ़ता है, तो उसे अपनी जिंदगी में शामिल करने की कोशिश भी शुरू हो जाती है, चाहे वह वस्तु निर्जीव हो या सजीव।

पहले प्रेमनगर गाँव के पूर्वी भाग से एक धारा बहती थी, जिसका नाम था 'प्रेमानदी'। जब पहाड़ों के झरने क्षीण पड़ने लगे, तब प्रेमानदी का प्रवाह भी धीरे-धीरे मंद पड़ता गया और अंततः पूरी तरह रुक गया। प्रेमनगर

से सटे दक्षिण दिशा के गाँव के लोगों ने उस धारा के मुख को बाँध दिया और भूमि काटकर वहाँ घर बनाना शुरू कर दिया। जनसंख्या के अनुपात में भूमि कम थी, इसलिए आवास की समस्या बनी ही रहती थी।

नदी का आगे का रास्ता रोके जाने से प्रेमानदी का स्वरूप बदलने लगा। कभी वह सरोवर जैसी प्रतीत होती, कभी झील जैसी और कभी-कभी पोखर जैसी भी। देखने में अंतर भले न लगे, पर एक ही जलधारा के प्रवाह को थाम देने से वह विभिन्न रूपों में परिवर्तित होती चली गई।

नदी की धारा को रोक देने से उसका बाह्य प्रवाह भले थम गया हो, लेकिन पहाड़ों से धरती की ओर आने वाला उसका भीतरी मार्ग अब भी पीछे से जुड़ा रहा और निर्बाध रूप से सक्रिय बना रहा। इसी कारण कहीं वह सरोवर बनी, कहीं झील और कहीं पोखर। पोखर इसलिए बनी क्योंकि धारा का मुंह आगे से बंद हो गया और जल चारों ओर फैलता गया। पीछे के गाँव वालों ने जगह-जगह बाँध बनाकर अपने हिस्से का पानी रोक लिया। धीरे-धीरे प्रेमानदी का रूपांतरण हुआ और वह 'प्रेमा पोखर' कहलाने लगी। बाद में उसका नाम 'परमा पोखर' हो गया।

नाम कुछ भी हो, पर यह तो है कि बिना जाठ के ही पोखर क्यों न हो लेकिन गाँव का जलस्रोत और पवित्र जल का भंडार।

पंद्रह सौ बीघा क्षेत्र में फैला प्रेमनगर गाँव ऊँचाई और निचाई के आधार पर तीन भागों में विभाजित है: ऊँचा, मध्यम और गहरा। गाँव की चार सौ बीघा जमीन ऊँचाई पर स्थित है जहाँ लगभग नौ सौ परिवार निवास करते हैं। इसी क्षेत्र में बाग-बगीचे और वाड़ी भी फैली हुई हैं।

यद्यपि अन्य गाँवों में भी ऊँची-नीची भूमि होती है, पर प्रेमनगर में यह विभाजन सुव्यवस्थित और स्पष्ट है, मानो भूगोल को तीन समान हिस्सों में बाँट दिया गया हो।

चार सौ बीघे की ऊँची भूमि घरों, बाड़ियों, बागों और फलों की खेती के लिए उपयुक्त है। दूर से देखने पर यह हिस्सा एक सजी-सँवरी, समृद्ध ग्राम-परिकल्पना जैसा प्रतीत होता है। इसके विपरीत, दूसरी और तीसरी

श्रेणी की भूमि, जहाँ मुख्यतः अन्न और सब्जी की खेती होती है, मैदान जैसी समतल प्रतीत होती है। यही है प्रेमनगर का मैदान।

परंतु जैसे शरीर और आत्मा का संबंध होता है, शरीर को तो सब देखते हैं, पर आत्मा को कुछ ही पहचान पाते हैं, वैसे ही प्रेमनगर भी दो हिस्सों में विभाजित है। एक हिस्सा है 'प्रेमनगर गाँव' और दूसरा है 'प्रेमनगर का मैदान'।

समतल घरों वाला गाँव, इसलिए इसे 'समतल गाँव' कहा जाता है। प्रेमनगर विभिन्न जातियों का गाँव है। यह बात केवल जातियों की संख्या से नहीं, बल्कि इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि हर जाति के अपने देवी-देवता, अपने पर्व-त्योहार और अपने-अपने सामाजिक व्यवहार हैं। साथ ही, यहाँ अनेक रंगों के समाज, विभिन्न स्वरूपों के धर्मस्थल और भिन्न-भिन्न बोलियों की उपस्थिति भी देखी जा सकती है।

फिर भी, इतनी विविधता के बावजूद इस गाँव में कभी कोई विघटनकारी घटना नहीं घटी।

हाँ, चुनाव के समय वोट बाँटे जाते हैं, पर लोग इसका मर्म नहीं समझते। समझें भी क्यों, जब हर कोई केवल अपनी जाति देखकर ही मतदान करता है। न कोई स्थायी राजनीतिक पार्टी है, न कोई स्पष्ट विचारधारा जो लोगों को सोच-समझकर मतदान के लिए प्रेरित करे।

उम्मीदवारों का हाल भी कुछ अलग नहीं। जिस पार्टी से टिकट मिल गया, वहीं शामिल हो गए। ऐसे में जीवन की दिशा और भविष्य की कोई ठोस रूपरेखा बन ही नहीं पाती।

जब राजनीतिक विचारधारा ही नहीं, तब चुनाव जीतने का अर्थ बस विधायक या सांसद बन जाना होता है। ऐसे में उम्मीदवार और मतदाता दोनों के लिए विचारधारा का कोई महत्व नहीं बचता। कौन सोचता है कि अपनी चेतना और जीवन-सम्मान को किसी राजनीतिक दाँव पर नहीं, बल्कि एक जागरूक दिशा में लगाना चाहिए, ऐसी दिशा जो सबके जीवन को समृद्ध कर सके।

बीस वर्ष पहले प्रेमनगर की अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति थी, पर अब उसमें टूट-फूट शुरू हो चुकी है, जिससे गाँव की छवि भी धीरे-धीरे बदल रही है। पहले रामपुर, कृष्णपुर और महमदपुर की तरह प्रेमनगर में भी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बहुत कम थी। इतना भर ज्ञान था कि रजिस्ट्री ऑफिस में जाकर दस्तख़त कर सकें। राशन की दुकान पर तो अंगूठा लगाना ही पर्याप्त होता था।

बीमार होने पर गाँवों में वैद्य और ओझा ही सहारा होते थे। एक बीमारी के लिए सत्रह तरह की दवाइयाँ और झाड़-फूँक करने वाले सत्रह लोग तैयार रहते।

जीवन की ज़रूरतें भी उतनी ही सीमित थीं: सिर पर छत, तन ढकने के लिए कपड़ा और पेट भरने के लिए भोजन। यह भी सच है कि साल भर में इतने व्रत-त्योहार होते हैं कि चार महीने तक बिना किसी दावत या विशेष आयोजन भी धर्म निभाया जा सकता है। और कहना क्या, साल में बावन-तिरेपन रविवार होते हैं, यानि डेढ़ महीने से भी अधिक उपवास के दिन। और बाकी बातें भी तो सभी के सामने हैं।

खेत की उपज भी तब बेहतर होती थी। पुराने माप से देखा जाए तो एक कट्ठे में बीस मन शकरकंद और सुथनी की उपज हो जाती थी। यदि चार कट्ठा जमीन की भी खेती कर ली जाए, तो घर का गुज़ारा आसानी से चल जाता था। भोजन भले ही साधारण होता, लेकिन कोई भूखा नहीं सोता था।

आज का प्रेमनगर अब वह नहीं रहा जो बीस वर्ष पहले था। अब लोग गणित की तरह अपने जीवन की पद्धति गढ़ने लगे हैं। पहले पूरे गाँव में घास-फूस के घर थे और गर्मियों में आग लगने का भय हमेशा बना रहता था। लेकिन अब पक्के घरों के निर्माण से वह समस्या कम हो गई है, और इसके साथ-साथ लोगों की सोच में भी बदलाव आने लगा है।

अन्य गाँवों के लोग कहते हैं कि महिला शिक्षा पिछड़ रही है, जबकि प्रेमनगर के लोग मानते हैं कि यहाँ तो पुरुषों की शिक्षा भी पीछे रह गई है।

हर गाँव की अपनी सोच है, अपने तर्क हैं। पहले समाज की विचारधारा में भौगोलिक स्थिति की बड़ी भूमिका हुआ करती थी, पर अब उसका प्रभाव भी धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

सामाजिक संबंधों के मामले में प्रेमनगर की विचारधारा अन्य गाँवों से अलग है। प्रेमनगर की मित्रता और अन्य गाँवों की मित्रता में भी अंतर है। उदाहरण के लिए, हिंदू समाज में रुपए के लेन-देन में ब्याज (सूद) लिया जाता है, जबकि मुस्लिम समाज में नहीं। अपने-अपने समुदायों के भीतर यह व्यवस्था चल जाती है, लेकिन दोनों–हिंदु-मुसलमान–के बीच यह कैसे चले, यह प्रश्न बना रहता है। यही स्थिति भोजन-पानी के व्यवहार में भी देखी जा सकती है। अन्य गाँवों में आज भी जाति-आधारित भेदभाव है, एक जाति का पानी दूसरी जाति के लोग नहीं पीते, उनके हाथ का भोजन नहीं करते। लेकिन प्रेमनगर में ऐसा नहीं है। यहाँ सभी लोग एक समूह के रूप में साथ बैठकर खाते-पीते हैं।

पहले अन्य गाँवों में पोखर और कुओं के उपयोग पर जातिगत रोक-टोक होती थी, अब तो चापाकल होने की वजह से कई स्थानों पर बोरिंग के पानी पर प्रतिबंध लगने लगे हैं। यह सब आज भी कई गाँवों में जारी है, जो लोगों के बीच दूरी बढ़ाता है। लेकिन प्रेमनगर में न पहले ऐसा था, न अब है। यहाँ हिंदू और मुस्लिम समुदायों के बीच आर्थिक व्यवहार में भी समानता है, व्यवहार में समान अधिकार और पारदर्शिता।

इसी प्रकार ‘पनिचल्ला’ (पानी बरतन से देने वाला) और ‘बिना पनिचल्ला’ जैसे व्यवहार भी यहाँ मौजूद हैं, पर प्रेमनगर के लोगों का संबंध अधिक समावेशी है।

प्रेमनगर के लोग जानते हैं कि बाहर की दुनिया कैसी है, उससे उन्हें विशेष सरोकार नहीं। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है: ‘जो जैसा है, अपने गाँव का है’। उनका गाँव, उनका समाज, उनकी सोच, उनकी विचारधारा, यही उनका मार्ग है और उसी में वे बहते हैं।

विवाह दान के व्यवहार में प्रेमनगर के लोग अब अधिक सजग हैं,

क्योंकि वे स्वयं भुक्तभोगी रहे हैं। आज के समय में बेटे का विवाह 'लेना' और बेटी का विवाह 'देना' माना जाता है। पर यह भी पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता कि पहले समय में इसके उलट प्रवृत्ति भी देखी गई थी, बेटी के विवाह में लेना और बेटे के विवाह में देना। यही तो समाज का चक्र है, एक तरफ 'लेना', दूसरी तरफ 'देना', और कहीं-कहीं 'लेना-देना' दोनों।

जीबेन्द्र की दोस्ती गाँव के एक निम्न जाति के व्यक्ति, मुसन से हो गई थी। धीरे-धीरे दोनों के बीच बैठकी-जमघट, बातचीत, खाने-पीने और पैसों के लेन-देन तक के संबंध बन गए। एक दिन बातचीत के दौरान मुसन ने जीबेन्द्र से कहा-

"दोस्त, जैसा भाग्य मेरा है, वैसा ही भगवान ने तुम्हारा भी बना दिया है।"

मुसन का इशारा समाज में व्याप्त दहेज प्रथा की ओर था। क्योंकि जैसे मुसन के एक बेटा और तीन बेटियाँ हैं, वैसे ही जीबेन्द्र को भी एक बेटा और तीन बेटियाँ हैं। जीबेन्द्र मुसन का संकेत तुरंत नहीं समझ पाए, पर इतनी समझ जरूर थी कि जब दोनों बैठते हैं, तो बात किसी-न-किसी दिशा में ज़रूर मुड़ जाती है। उन्हें अंदाजा था कि कुछ देर में मुसन अपनी बात खुद कह देगा। इसलिए उन्होंने बात को दूसरी दिशा में मोड़ना ही बेहतर समझा।

बात का रुख बदल गया, और थोड़ी ही देर में मुसन फिर बोल उठा-

"जिसके पाँच बेटे होते हैं, वह दहेज से इतनी कमाई कर लेता है कि उसकी पाँच पुश्तें भी बैठे-बैठे खा लें।"

सोच की लहर में बहते मुसन को थामते हुए जीबेन्द्र ने उसका हाथ पकड़कर ज़मीन पर टिकाते हुए कहा-

"दोस्त, तुम्हें शायद पता नहीं, तुम्हारी जाति में तो बेटे वाले को ही रुपए गिनकर देने पड़ते हैं।"

मुसन अब जीवन की बहुत-सी जटिलताएँ समझने लगा था। फिर भी, जीवन तो कीचड़ की तरह है, जिसमें जल और मिट्टी दोनों रहते हैं, और

आदमी खुद भी सब कुछ नहीं समझ पाता। मुसन के साथ भी ऐसा ही हुआ। वह बोला-

“दोस्त, तुम्हारी बात समझ में नहीं आई।”

जीबेन्द्र मन-ही-मन सोचने लगा कि जब मुसन अपना ही भला-बुरा ठीक से नहीं समझ पा रहा है, तो समाज के उलझे हुए जाल को कैसे समझेगा। पर व्यवहार की दृष्टि से देखा जाए तो दोस्ती का मतलब क्या होता है, और समाज का क्या अर्थ है? इन विचारों से खुद को अलग करते हुए जीबेन्द्र मुस्कराकर बोला-

“दोस्त, हमारा-तुम्हारा भाग्य इस गाँव में सबसे अच्छा है।”

मुसन की उत्सुकता जागी, उसने पूछा-

“दोस्त, वह कैसे?”

जीबेन्द्र ने उत्तर दिया-

“दोस्त, बेटे के विवाह में हम क्या दहेज लेंगे! अपने घर एक कर्मशील इंसान को लाना ही सबसे बड़ा दहेज है।”

जीबेन्द्र का यह संकेत मुसन की समझ से बाहर रहा, लेकिन वह अपने भाव में बहते हुए बोला-

“दोस्त, मैं भी अपने बेटे की शादी में दहेज नहीं लूँगा।”

तभी से मुसन ने अपने परिवार में बदलाव करना शुरू कर दिया, जिसके प्रभाव से पूरे टोले की कार्य-पद्धति में परिवर्तन आने लगा। बीच के समय में यह सामाजिक रिवाज था कि लड़की को वस्त्र और आभूषण देना लड़का पक्ष का दायित्व माना जाता था, जबकि लड़के को वस्त्राभूषण देना लड़की पक्ष की जिम्मेदारी होती थी। वहीं, विवाह भोज में दाल-चावल और दही परोसने की परंपरा प्रचलन में आ गई थी। लेकिन अब समाज एक तीसरे मोड़ पर आ पहुँचा है।

इक्कीस जून। सुबह का समय। धीरेन्द्र ने चाय पीकर आगे की योजनाओं के बारे में सोचना शुरू ही किया था कि तभी उसके मन में

जगमोही की माँ, सुवासिनी का ध्यान आ गया। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि अब क्या करना उचित होगा। आज का समाज इतना दूषित हो गया है कि बिना किसी वास्तविक घटना के भी अफवाहें उड़ने लगती हैं। इसी प्रदूषित मानसिक वातावरण के बीच, धीरेन्द्र के भीतर एक स्वच्छ और सच्चा विचार जगा।

विचार आते ही वह उठ खड़ा हुआ और यह ठानते हुए कि जो भी प्रश्न सामने आएगा, उसका सामना करेगा, वह जगमोही से भेंट करने निकल पड़ा।

उधर, सुवासिनी ने भी चाय पीने के बाद गाँव घूमने का विचार बना लिया था। धीरेन्द्र के घर से श्याम के घर तक लगभग दस मिनट की दूरी थी। दोनों घर अलग-अलग टोलों में स्थित थे। सुवासिनी जैसे ही घर से बाहर निकलने को हुईं, तभी धीरेन्द्र वहाँ पहुँच गया।

बीस वर्ष पहले प्रेमनगर में जातियों के बीच संबंध वैसा ही था जैसा आज अन्य गाँवों में दिखाई देता है, गाँव जातीय खाँचों में बँटा हुआ था, जिससे खान-पान और जीवन-पद्धति में भी अंतर बना रहता था। यही अंतर जातियों के बीच खाई का कारण बना और सामाजिक दूरी सीधी राह में भी आ खड़ी हुई।

उदाहरण के तौर पर, श्राद्ध-कर्म की प्रक्रिया को देखा जा सकता है। कुछ जातियों में मृत्यु के बाद तेरह दिन के भीतर सारे संस्कार पूरे कर दिए जाते हैं, कुछ में पंद्रह दिन, कुछ में अठारह, और कुछ जातियों में यह अवधि तीस दिनों तक चलती है।

इसके अतिरिक्त एक और बाधा यह भी होती है कि जब तक 'नह-केश' का कर्म पूरा नहीं होता और श्राद्धकर्म शेष रहता है, तब तक यदि उसी परिवार या दियाद में फिर कोई मृत्यु हो जाए, तो पहली मृत्यु की क्रिया भी दूसरी के अनुसार ही आगे बढ़ती है। इस स्थिति में दो 'गुणा' या लगभग 'पौने दो गुणा' तक का समय निकल सकता है।

प्रश्न यह है कि जब किसी परिवार में मृत्यु की घटना घटती है, तो

उसी क्षण से उस परिवार की जीवंत गतिविधियाँ बाधित हो जाती हैं। जीवन के साथ चलने वाले कार्य जब रुकते हैं, तो जीवन की गति भी थम जाती है। ऊपर से समय और परिस्थिति की कठिनाइयाँ इस दुख को और गहरा कर देती हैं। वे कार्य, जो सामान्य स्थितियों में सहजता से संपन्न हो जाते, वही संकट के समय बोझ बन जाते हैं।

इसमें एक और तथ्य यह है कि आज की तुलना में पहले की जीवन-प्रणाली कम विकसित थी, जिसके चलते जीवन और भी अधिक कठिन था। जो समस्याएँ आज लगभग समाप्त हो चुकी हैं, वही पहले महामारी बनकर गाँव-गाँव में फैल जाती थीं। हैजा हो, प्लेग, काला ज्वर या कोई अन्य रोग, ये घर-घर में मृत्यु का कारण बनते थे। परंतु अब ये बीमारियाँ लगभग समाप्तप्राय हो चुकी हैं।

आज के प्रेमनगर के लोगों में समय के साथ तालमेल बिठाने की सोच विकसित हुई है। वे अपने व्यवहार को सुधारते हुए आगे बढ़े हैं और कहीं न कहीं एक अग्रणी या विचारशील समाज के रूप में अपनी पहचान बना ली है। जैसे अन्य गाँव जातियों के आधार पर सीमाएँ खींचते हैं, वैसे ही कुछ स्थानों पर कुल-खानदान के नाम पर भी समाज में बँटवारा होता है, जो स्वयं को समाज की मुख्यधारा से काट देता है।

हालाँकि गाँव-समाज में हमेशा से ऐसी राहें बनती रही हैं जहाँ दोस्ती बनने में देर नहीं लगती, और टूटने में भी नहीं। इसी अस्थिर नाव पर समाज की सवारी चलती रही है।

फिर भी प्रेमनगर के लोगों ने समय के साथ स्वयं में सुधार किया है। जहाँ पहले गप्पबाजों के झुंड बेवजह बैठे-बैठे घंटों समय गँवाकर समाज में वैमनस्य का वातावरण बना देते थे, वहीं अब वे उसी स्थान पर गंभीर विचार-विमर्श करने लगे हैं।

आज का परिवेश दुनिया की हवाओं में बवंडर की तरह उलझता और उधड़ता जा रहा है। ऐसे में सबसे बड़ी चिंता यही है कि समाज का वातावरण किस प्रकार रचा जाए, ताकि जीवन सरल, संतुलित बना रहे और समाज सक्रिय रहते हुए अपनी दिशा स्वयं तय कर सके।

धीरेन्द्र को देखते ही जगमोही बिना कुछ कहे मन-ही-मन मुस्कुरा उठीं, पर सुवासिनी ने अपने मातृत्व की गरिमा सँभालते हुए कहा-

"बौआ धीर, हम लोग तो गाँव छोड़कर चले गए। अब यह गाँव तुम्हारा ही हो गया है। कभी बुलाओगे तो आ जाएँगे, नहीं तो मन ही मन माता-पिता के चरणों में प्रणाम कर मायके को याद करते रहेंगे, याद करते रहेंगे कि कैसे जन्म से लेकर विवाह और विदाई तक हम इसी गाँव में रहे।"

सुवासिनी की बात सुनकर धीरेन्द्र ने उस शिष्ट भाव से मुस्कुराया जो एक समझदार युवक के भीतर स्वाभाविक रूप से होता है और बोला-

"बहन, मैं समाज का वह भाई नहीं हूँ जो बहन से कहे कि कार्तिक के भरदुतिया में बहन से कहे कि अगहन का दुतिया चाँद जिस दिन निकले उस दिन आना।"

हालाँकि सुवासिनी अब पटना की शहरी हवा में बहुत कुछ बदल चुकी थीं, पर यह भी उतना ही सत्य है कि प्रेमनगर की मिट्टी से उनका संबंध कभी टूटा नहीं। विवाह से पहले तक तो वे वहीं रही थीं। धीरेन्द्र की बात सुनकर उन्होंने अपने विचार पर जोड़ देकर प्रेमनगर में बिताए दिनों को याद करने लगीं, कैसे वे दशमी के दिन फूल चुनकर दुर्गास्थान पहुँचाया करती थीं। कैसे आम की बगिया से टिकुला चुनकर आमीली बनाती थीं। कैसे शिवरात्रि और कृष्णाष्टमी का उपवास रखती थीं, और जहाँ कहीं सतनारायण की कथा होती, वहाँ भी निर्जला व्रत करती थीं।

और जब बाढ़ आती थी, तो किस तरह आँगन का पानी उपछकर बचाती थीं, बाड़ी-झाड़ी से पानी हटाती थीं।

एक-एक कर अनेक स्मृतियाँ मन में उमड़ने लगीं।

जैसे-जैसे मायके की यादें गहराती गईं, वैसे-वैसे ससुराल की छवियाँ धुँधली होती चली गईं। सास-ससुर की तस्वीरें पीछे छूटती गईं और मन माता-पिता के आँगन में लौट गया। बचपन और किशोरावस्था की वे रंग-बिरंगी स्मृतियाँ, जिनमें कातिक की दुतिया और अगहन की दुतिया की चमक थी, धान कटनी की महक थी, सब एक साथ भीतर से झाँकने लगीं।

इन्हीं भावों के बीच जब वर्तमान परिवार की तस्वीर सामने आई, तो आँखें भर आईं। आँचल से आँसू पोंछते हुए सुवासिनी ने धीरेन्द्र की ओर देखा।

धीरेन्द्र का मन निर्मल था, पर वह भी जीवन के एक ऐसे मोड़ पर खड़ा था जहाँ संवेदनाएँ गहरी थीं, और निर्णय कठिन। तभी सुवासिनी ने भर्राए स्वर में कहा-

"बौआ धीर, भगवान सारी विपत्ति हमें ही दे गए।"

विचारों की दुनिया में धीरेन्द्र इस कदर खो गया कि उसके चेहरे पर किसी खोए हुए यात्री-सी एक धीमी चुप्पी छा गई। यह खोने का कारण यह था कि विपत्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं जो सबको एक ही रूप में दिखाई दे, जैसे कोई सींग-नख वाला जानवर हो, जिसे देखकर तुरंत पहचान लिया जाए कि यह घोड़ा है, यह हाथी है या गाय।

विपत्ति तो बस विपत्ति होती है, जिसका घर जल रहा हो, वही उसकी पीड़ा समझेगा। जिसका घर नहीं जल रहा, वह क्यों समझेगा? जिस व्यक्ति का घर बाढ़ में बह रहा हो, वही डूबने की तकलीफ जानता है; और जिस गाँव में बाढ़ कभी आती ही नहीं, उसे उस दर्द से क्या वास्ता? समझना और समझाना दो अलग बातें हैं, जो खुद न समझे, वह दूसरों को क्या समझा पाएगा?

धीरेन्द्र, जैसे किसी छोटे भाई की तरह, हल्के स्वर में बोला-

"सो क्या, बहन?"

धीरेन्द्र की यह बात सुनकर सुवासिनी का मन जैसे पवित्र जल से धुला हुआ, वैसा ही हो गया। वह भर्राए स्वर में बोलीं-

"बौआ, जैसे भैयारी के चलते ससुराल उपजा, वैसे ही भगवान ने ऐसा दंड दिया कि बेटे की जगह तीन-तीन बेटियाँ दे दीं। पति नौकरी पर हैं, अभी सब ठीक-ठाक चल रहा है। लेकिन जब नौकरी छूटेगी, हाथ की कमाई बंद हो जाएगी, तब कहाँ जाएँगे? इन बेटियों की शादी कैसे कर पाएँगे?"

सुवासिनी ने मन की सारी बात एक ही साँस में कह डाली। लेकिन

धीरेन्द्र का मन पहले से ही ऐसा थका हुआ था जैसे चारों ओर पहाड़ों से घिरी कोई बंजर धरती, जहाँ घास नहीं उगती, सिर्फ मनुष्यभक्षी जंगली जानवर बसते हों।

पर चाहे रास्ता पहाड़ी हो, जंगली हो या समुद्री, मनुष्य दो हाथ-पैर वाला जीव है, जो अस्थिरता के बावजूद चल सकता है, दौड़ सकता है, जानवरों से मुकाबला कर सकता है, और सोच-समझकर उपाय भी खोज सकता है। वह ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ सकता है, और समुद्र में डुबकी भी लगा सकता है।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि बस दो हाथ-पैर लेकर समुद्र में कूद जाने या जंगल काटने से सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं। लेकिन समय-समय पर ऐसा कर पाना सम्भव है। यदि हर कठिन प्रश्न को टुकड़ों में बाँटा जाए, जीवन को सड़क पर उतारकर एक यात्री की तरह देखा जाए, और समाधान को छोटे-छोटे हिस्सों में इकट्ठा किया जाए, तो जीवन न बोझिल बनता है और न ही जीने से विमुख करता है।

इसी बीच, प्रेममोही अपनी सहेली रूपमोही के साथ वहाँ पहुँच गई। परिवार से जुड़ी समस्याएँ कुछ ऐसी होती हैं, जो बच्चों की समझ में आ भी सकती हैं और नहीं भी। इसलिए अभी बात वहाँ तक ले जाना उचित नहीं। फिलहाल यह सिर्फ भाई-बहन के बीच की बातचीत है, जिसमें ज़रा-सी असावधानी भी दोनों तरह का असर डाल सकती है, अच्छा भी और बुरा भी।

धीरेन्द्र, प्रेममोही को नाम से जानता था। वह जानता था कि गाँव में एक लड़की है जो कॉलेज में पढ़ती है। लेकिन आमने-सामने की पहचान आज पहली बार हुई थी। जब उसने नजर उठाई, तो देखा कि प्रेममोही की नजर जगमोही पर टिकी हुई थी। इस कारण दोनों एक जगह होते हुए भी वास्तव में नहीं मिल पाईं।

जगमोही को धीरेन्द्र अच्छी तरह जानता था, लेकिन प्रेममोही को उतना नहीं। हाँ, इतना जरूर जानता था कि वह हृदयनाथ की बेटी है और बी.ए. में पढ़ती है। यह नहीं जानता था कि किस विषय में पढ़ाई कर रही

है। यदि यह जानकारी भी होती, तो वह प्रेममोही को भी उसी आत्मीयता से देखता जैसे जगमोही को देखता है।

सुवासिनी से बातचीत करते हुए एक क्षण के लिए धीरेन्द्र के मन में आया कि वह जगमोही और प्रेममोही से कह दे कि वे दोनों कहीं और जाकर बात करें या जगमोही को गाँव दिखा लाएँ। लेकिन प्रेममोही, उसकी सहेली रूपमोही और जगमोही, इन तीनों के बीच स्वयं को थोड़ा अनाड़ी और असहज महसूस करते हुए, उसने चुप रहना ही बेहतर समझा।

उधर, भाई-बहन की बातचीत में सुवासिनी भावनाओं में डूबी जा रही थीं। ऐसे में किसी अन्य बात को बीच में लाना उन्होंने भी उचित नहीं समझा। सुवासिनी ने जगमोही से कहा-

"बिटिया, मैं इसी गाँव में जन्मी, यहीं पली-बढ़ी। बहुत कुछ देखा है। लेकिन तुम्हारा जन्म यहीं हुआ और तीन महीने बाद ही मैं ससुराल चली गई। वह ससुराल भी कोई पास नहीं, सीधे पटना। इसलिए तुम्हें ज्यादा देख-परख नहीं पाई। अब जब सहेलियाँ भी मिल गई हैं, तो घूम-फिरकर गाँव देख आओ, बातें सुनो, यादें बटोरो।"

जगमोही माँ की बात सुन चुकी थी, लेकिन उसे धीरेन्द्र की प्रतिक्रिया का भी इंतज़ार था। उसी क्षण, पटना की पहचान और दूरी को एक ओर रखकर, धीरेन्द्र ने मुस्कराकर कहा- "हाँ, जब जगमोही प्रेमनगर आई है, तो सिर्फ आम खाकर ही क्यों लौटे? गाँव-घर की पहचान, हवा की खुशबू, मिट्टी की गंध- सब कुछ अपने तन-मन में समेटकर ले जाए।"

जगमोही भी धीरेन्द्र के व्यक्तित्व और उसके पारिवारिक जीवन को नजदीक से देखना चाहती थी। उसे लग रहा था कि यह जानने और समझने का सबसे अच्छा अवसर यही है। इसलिए वह मुस्कराई, उठ खड़ी हुई और बोली-

"माँ, मुझे नहीं पता कि कब घूमकर लौटूँगी। अगर तुम्हारा भी मन हो, तो तुम भी टहल आना।"

एकांत और शांत वातावरण का अवसर पाकर धीरेन्द्र ने सुवासिनी

से कहा-

"बहन, अभी मैं न तो समाज में किसी पद पर हूँ और न ही किसी परिवार का मुखिया हूँ। मैं इस समय केवल एक विद्यार्थी हूँ। विद्यार्थी को गुरु-शिष्य आश्रम का हिस्सा माना जाता है। जब तक पढ़ाई चल रही है, तब तक यही पहचान है। हाँ, अठारह वर्ष की उम्र पार कर चुका हूँ और स्नातक स्तर पर अध्ययन कर रहा हूँ, इसलिए...।"

धीरेन्द्र की यह सहज और सम्मानपूर्ण बात सुनकर सुवासिनी वैसे ही प्रसन्न हो उठीं जैसे मानसरोवर में कमल खिल उठे। कमल की तरह, जो अपने स्थान पर अडिग रहकर जल के ऊपर उठकर अपनी सुंदरता बिखेरता है, वैसा ही कोई भाव उन्हें धीरेन्द्र में दिखाई दिया। प्रसन्न होकर वह बोलीं-

"तुम लोग ही तो बाप-दादा की धरती पर हमारे भाई-बंधु हो। अपना दुख-दर्द तुम्हें न कहें, तो फिर किससे कहें।"

सुवासिनी की डगमगाती जिंदगी की डूबती नाव देखकर, धीरेन्द्र के मन में एक क्षण के लिए बिजली-सी कौंध उठी। विचार यह आया कि जब अर्जुन जैसे योद्धा पिता और कृष्ण जैसे मामा भी अभिमन्यु को मृत्यु से नहीं बचा सके, तो मैं कौन-सा पर्वत हिला दूँगा। लेकिन तुरंत ही मन ने उत्तर दिया कि बहन की डूबती नाव को जहाँ तक पार लगा सकूँ, इतना तो करना ही चाहिए। सबसे पहले जरूरी है कि सुवासिनी के विचारों को समझा जाए, न कि हरिमोहन बाबू की तरह जो समाज की सारी समस्याओं को एक जगह लाकर दोस्त-दुश्मन सबको एक साथ खड़ा कर देते हैं।

धीरेन्द्र बोला-

"ऐसा ही होता है बहन। जब मन पीड़ा से भरा हो, तो बातों में कई तरह के झोंके उठते रहते हैं। इसलिए हर समस्या को अलग-अलग सामने रखिए। एक छोटे भाई के नाते जहाँ तक संभव होगा, मैं साथ दूँगा।"

सुवासिनी ने कहा-

"ससुराल की बात छोड़ ही देते हैं। भैयारी में ऐसा अन्याय तो हर गाँव में होता है। मनुष्य जहाँ अच्छा स्थान पा ले, वहीं उसका स्वर्ग है।"

एक बड़ा प्रश्न अपने-आप हल होता देख धीरेन्द्र के मन में सहज विश्वास-सा जगा। उसने पूछा-

“भाई सब मजबूत है न?”

सुवासिनी ने उत्तर दिया-

“हाँ।”

धीरेन्द्र ने कहा-

“जाने दीजिए, वंश बढ़ने पर ऐसे ही होने लगती है।”

अपनी राह स्वयं पहचानते हुए सुवासिनी बोलीं-

“सास-ससुर की संपत्ति से तो सीना में मुक्का मारकर संतोष कर लिया है।”

लेकिन जैसे किसी कथा का रसिक लेखक किसी प्रसंग को बार-बार दोहराता है, वैसे ही सुवासिनी ने फिर ससुराल की बात दोहराई। बोलीं-

“उन बेईमान लोगों का भला कैसे होगा? दियादी की संपत्ति की बेईमानी किसी से पचती नहीं। पेट में रोग होगा ही, मन भी बीमार हो जाएगा।”

मन ही मन धीरेन्द्र को कभी हँसी भी आती, तो अगले ही क्षण बहन की पीड़ा देखकर वह विचलित हो उठता। अब बात को किस दिशा में आगे बढ़ाना उचित होगा, यह तुरंत समझ में नहीं आ रहा था, इसलिए मुँह से कुछ कहने का भी मन नहीं हुआ। लेकिन सुवासिनी का मन बार-बार ससुराल की धन-संपत्ति पर जा टिकता।

इसी उधेड़बुन में अचानक उनके मन में एक भावों का झोंका उठा और वह कह बैठीं-

“जैसे हमारी संपत्ति से भैयारे-दुश्मनों ने अन्यायपूर्ण लाभ उठाया, वैसे ही उनका भी भला नहीं होगा।”

संपत्ति की यह आग सुवासिनी के भीतर बार-बार सुलग रही थी। यह देखकर धीरेन्द्र को लगा कि सबसे पहले इस ज्वाला को शांत करना

आवश्यक है। जब तक विचारों को किसी दूसरी दिशा में मोड़ा नहीं जाएगा, यह आग उन्हें भीतर ही भीतर जलाती रहेगी।

धीरेन्द्र बोला-

"बहन, अब समय बदल गया है। पहले बेटा-बेटी में बहुत फर्क किया जाता था, लेकिन अब तो बेटा-बेटी को बराबरी का अधिकार मिलने लगा है।"

विचारों को देखने के दो तरीके हो सकते हैं। एक, ऊपर-ऊपर से, सरसरी नजर से। दूसरा, गहराई से, जीवन की सच्चाइयों को समझते हुए। धीरेन्द्र की बात सुनकर सुवासिनी बोलीं-

"हाँ, यह बात तो सही है। देख रही हूँ कि लोग अपने बूढ़े माता-पिता को भी छोड़कर कहाँ-कहाँ निकल जाते हैं। गाँव छोड़ना तो जैसे मामूली बात हो गई है। अब तो लोग देश-प्रदेश भी छोड़ देते हैं।"

यह सुनकर धीरेन्द्र को महसूस हुआ कि सुवासिनी भय और अनिश्चित भविष्य की धुँध में खड़ी हैं। सामने जीवन-धारा बह रही है, लेकिन उसे पार करने का साहस नहीं जुटा पा रहीं। जबकि हर किसी को अपनी जीवनधारा स्वयं ही पार करनी होती है। दूसरा चाहे जितनी सहायता कर दे, पार तो खुद को ही करना पड़ता है।

जीवन में सबसे पहले जरूरी है अपने पथ की पहचान। रास्ता कहाँ मोड़ लेगा, सहायता कहाँ से मिलेगी, यह तभी समझ में आता है जब व्यक्ति भीतर से जाग्रत हो। सहायता भी दो प्रकार की होती है, एक, अनुभवी व्यक्ति से प्राप्त अनुभव। दूसरी, बिना अनुभव वाले खोजी या विचारशील व्यक्ति से प्राप्त मार्गदर्शन।

धीरेन्द्र सोचता रहा कि उसकी अब तक की जिंदगी स्कूल और कॉलेज तक ही सीमित रही है, जबकि परिवार और समाज का जीवन उससे बिल्कुल अलग और कहीं अधिक जटिल है।

इसी बीच श्याम की पत्नी सुचिता चाय लेकर आ गई। सुवासिनी के सामने चाय रखते हुए मुस्कराकर बोलीं- "आप सब तो बड़े लोग हो गए हैं।

क्षण-क्षण पर चाय पीने की आदत होगी। पहले चाय पी लीजिए, फिर निश्चिन्त से बैठकर बातें कीजिए।"

इतना कहकर सुचिता अपने काम की ओर बढ़ गई। उसने तश्तरी से चाय का कप उठाकर धीरेन्द्र की ओर बढ़ाया, लेकिन उसी समय धीरेन्द्र ने तश्तरी में रखा दूसरा कप खुद ही उठा लिया और कहा-

"बहन, अभी मैं आपसे आग्रह नहीं करूँगा। जब कोई अपने ही घर का व्यक्ति कई दिनों बाद लौटता है, तो वह पहले मेहमान की तरह ही लगता है, जो स्वाभाविक है। क्योंकि घर-परिवार की गति से वह कुछ समय के लिए अपरिचित हो जाता है। जैसे-जैसे वह फिर से दैनिक जीवन की गतिविधियों से जुड़ता है, वैसे-वैसे वह घर का हिस्सा भी बनता जाता है।"

धीरेन्द्र की बात सुनकर सुवासिनी के मन में यह भाव आया कि यह घर चाहे श्याम का हो, लेकिन यहाँ धीरेन्द्र भी उतना ही अपना है जितना वह खुद। वह बोलीं-

"बौआ, जिस घर की मैं हूँ, उसी घर के तुम भी हो।"

इस आत्मीय भावना को देखकर धीरेन्द्र ने मुस्कराकर कहा-

"बहन, आपके लिए यह घर और गाँव के सारे घर एक जैसे हैं। फिर सोच में भेद क्यों हो?"

विचार की गहराई में उतरते ही सुवासिनी के मन से ससुराल के अनुभव धीरे-धीरे पीछे छूटने लगे, और मायके की आत्मीयता सामने आ गई। वह बोलीं-

"हाँ, यह भी ठीक है। लेकिन सीधा स्वीकार कर लेना ही तो काफी नहीं होता। जीवन के साथ तालमेल बैठाना भी जरूरी है।"

धीरेन्द्र ने सहमति जताई:

"बिलकुल ठीक। लेकिन केवल स्वीकार भर कर लेने से रिश्ते मजबूत नहीं होते। अगर संबंधों को थाम कर रोक लिया जाए, तो घर भी धीरे-धीरे सूना हो जाता है।"

सुवासिनी बोलीं- “हम्म... बात तो सही है। पर ये सब बातें तो तब की हैं जब जीवन में बहुत कुछ हो। जिनके पास कुछ भी न हो...।”

‘कुछ भी न हो’ के भाव से निकले इन शब्दों ने धीरेन्द्र को भीतर तक झकझोर दिया। वह कुछ कहने ही वाला था कि तभी श्याम वहाँ पहुँच गया। फिर अपनी बात को समेटते हुए धीरेन्द्र बोला-

“बहन, केवल श्याम का परिवार ही अपना नहीं है। गाँव का हर घर, हर परिवार अपना है। आप गाँव की बेटी हैं, आपके लिए सब समान हैं। बेटी किसी एक परिवार की नहीं होती, वह तो पूरे समाज की धरोहर होती है।”

धीरेन्द्र की बात सुनकर सुवासिनी की आँखों के सामने कन्या भ्रूण हत्या की विभीषिका नाच उठी। वह उस समाज को देख रही थीं जो आज बेटियों के अस्तित्व को ही मिटा देने पर तुला है। जहाँ बेटी का होना ही एक बोझ समझा जा रहा है, वहाँ जीवन जैसे पहाड़ों के बीच कैद हो गया है।

लेकिन सुवासिनी यह भी समझ रही थीं कि आज जिस तरह समाज में विघटन बढ़ रहा है और रिश्तों की डोर टूटती जा रही है, यह कोई बच्चों का खेल नहीं, बल्कि एक गहरा सामाजिक संकट है।

फिर भी खुद को संयमित करते हुए वह धीमे स्वर में बोलीं-

“दुनिया चाहे जितनी भी बदल जाए, लेकिन मैं आज भी यही मानती हूँ कि मेरी जन्मभूमि और माता-पिता की कर्मभूमि यही है, तो फिर...।”

सुवासिनी की बात सुनकर श्याम के मन में जैसे कोई दर्द की गाँठ कस गई, वैसा ही कुछ धीरेन्द्र के भीतर भी खिंच गया। श्याम सोचने लगा, अपनी सगी बहन की आँखों से जो आँसू बह रहे हैं, क्या उन्हें झूठ कहा जाए? मेरा तो यह भी अधिकार है कि गाँव से बाहर रहनेवाले भाइयों की ओर से भी कुछ कह सकूँ। आखिर माता-पिता के घर का वास्तविक सहारा तो हम ही रहे हैं। अगर मैं अपनी बहन को भरोसा नहीं दूँगा, तो कौन देगा? जितनी मेरी सामर्थ्य है, उसमें पीछे नहीं हटूँगा। यह मेरा धर्म है, मेरा कर्तव्य है।

उधर धीरेन्द्र के मन में नए समय के विचार कई दिशाओं में लहरें उठाने लगे। एक क्षण के लिए उसका मन अस्थिर हुआ। श्याम की ओर देखते हुए उसने सुवासिनी से कहा-

“बहन, अब हम चलते हैं। दोपहर में समय मिले तो आप हमारे घर भी पधारिएगा।”

धीरेन्द्र के इस सौम्य आग्रह से सुवासिनी के मन में एक हल्की-सी मिठास घुल गई। और क्यों न घुले? एक तो धीरेन्द्र, जगमोही का कॉलेज-साथी; फिर पटना में रहते हुए उनका घरेलू सहारा भी बनता गया। ऊपर से जन्मभूमि का एक ऐसा युवक, जो अपना-सा लगता है। परंतु परिवार से जुड़ी बातों में सुवासिनी ने बहन का धर्म निभाते हुए मौन रहना ही ठीक समझा।

इसी बीच श्याम ने आश्वस्त करने के स्वर में धीरेन्द्र से कहा-

“हम क्यों सुवासिनी बहन के मायके की राह रोकेंगे? यह तो उनका जन्मस्थान है और जगमोही का मातृगृह भी।”

धीरेन्द्र की आँखों में एक हल्की-सी उदासी उतर आई। कुछ कदम दूर हटते ही श्याम ने सुवासिनी से कहा-

“बहन, दोपहर में तुम और बेटियाँ धीरेन्द्र के यहाँ घूम आओ। वैसे भी दोनों घरों की आम की बगिया एक ही जगह है, और फल भी खूब अच्छे हैं। यह गाँव है, पटना नहीं जहाँ लोग हर दिन सेव-अंगूर खाकर आम को बेवजह नज़रअंदाज़ कर देते हैं।” ❑

7

दिन ढल चुका था, जिससे गर्मी भी कुछ कम हो गई थी। शाम के लगभग छह बजे का समय था। सुवासिनी ने अपने छोटे भाई श्याम से कहा-

"बौआ, जब धीरेन्द्र घर लौटते समय कह गया था, तभी से मन में एक बात लगातार घूम रही है कि...।"

वह अपनी बात पूरी नहीं कर पाई, लेकिन मन में उठती भावनाओं को भला कैसे रोका जा सकता है। एक हल्का-सा संकेत ही पर्याप्त था। ऊपर से श्याम कोई अबोध नहीं था। प्रेमनगर में इस टोले और उस टोले के बीच अब तक का संबंध विशेष आत्मीय नहीं रहा था। इसलिए आपसी आवाजाही भी औपचारिक ही रही है। फिर भी समाज, समाज होता है- कोई पत्थर की मूर्ति नहीं। उसमें भी विचार होते हैं, और हर विचार की अपनी दिशा होती है। वह जोड़ भी सकता है, और तोड़ भी सकता है।

श्याम ने बिना किसी लाग-लपेट के कहा-

"बहन, न गाँव सिर्फ हमारा है और न ही समाज। ऐसे में मध्यस्थता वही कर सकता है जिसे समझ हो। जब बात केवल घूम-फिर कर देखने की है, तो जाने में क्या बुराई है?"

सुवासिनी के मन में संबंध स्थापित करने की भावना पहले ही जाग चुकी थी। धीरेन्द्र के मन में भी सुवासिनी को देखकर कुछ अपनत्व अवश्य हुई थी। इसलिए सब कुछ–देखना, समझना, परखना–भीतर ही भीतर चल रहा था।

सुवासिनी ने पूछा-

"हम चारों ही चलें या किसी और को भी साथ ले लें?"

उसके प्रश्न पर श्याम कुछ क्षण रुका। उसने सोचा, व्यक्ति ही परिवार की इकाई होता है और परिवार समाज का हिस्सा। जब बात व्यक्तिगत

संबंध की हो, तो बेहतर यही होगा कि केवल वे चारों–माँ और बेटियाँ–ही जाएँ।

श्याम बोला-

"बिना आवश्यकता के किसी और को साथ ले जाने की क्या ज़रूरत? हर किसी के घर में कुछ न कुछ काम तो लगा ही रहता है। तुम सब गाँव घूमो, देखो, समझो।"

उधर धीरेन्द्र पाँच बजे से ही सुवासिनी की प्रतीक्षा कर रहा था। जैसे ही वे चारों सामने दिखीं, उसने अपनी माँ से पूछा-

"माँ, आप इन सबको पहचानती हैं?"

अनुभव और समझ से भरी माँ ने सहज स्वर में उत्तर दिया-

"नहीं।"

हालाँकि सुवासिनी और तीनों बहनों ने पहले ही सुभावी के पैरों पर झुककर प्रणाम कर लिया था और सुभावी भी सबको आशीर्वाद दे चुकी थीं कि भली रहो, भगवान भला करे, फिर भी धीरेन्द्र के पूछने पर सुवासिनी कुछ नहीं बोली।

सुभावी की बात सुनकर जैसे धीरेन्द्र चौंका, वैसे ही चारों माँ-बेटी और सुवासिनी भी चौंक उठीं। चौंकने का कारण यह था कि यह क्या हुआ, पहचानती क्यों नहीं, मौसी-मौसी कहकर मिलने में क्या बाधा थी। क्या सोचकर धीरेन्द्र की माँ ने आशीर्वाद दिया होगा।

धीरेन्द्र अपनी माँ के ममत्व को भली-भाँति समझता था, इसलिए वह ज़्यादा विचलित नहीं हुआ, लेकिन सुवासिनी चारों माँ-बेटी अभी भी परेशान थीं।

उसी बीच धीरेन्द्र ने सुवासिनी का परिचय देते हुए माँ से कहा कि माँ, ये पूरबी टोले के श्याम भैया की बहन हैं।

श्याम की बहन सुनते ही सुभावी को अचानक सुवासिनी की शादी याद आ गई। वह बोली कि तुम्हारा ससुराल रामपुर ही है न।

ससुराल का नाम सुनते ही सुवासिनी की आँखें भर आईं। भीतर का

दबा हुआ दर्द फूट पड़ा। वह टूटी हुई आवाज़ में बोली-

"ऐसे गाँव में माता-पिता ने शादी कर दी जहाँ मुँह फेरकर रोते-रोते जीना पड़ रहा है।"

उसकी बात सुनकर सुभावी ने स्वयं को नहीं, पूरे समाज को बचाते हुए उत्तर दिया- "अब न माँ है न पिता, जो कुछ सुन सकें। उन्होंने तो अपने अनुसार अच्छा ही घर चुना था। अब अगर वह बुरा हो गया, तो इसमें उनका क्या दोष?"

उसी समय धीरेन्द्र के पिता, जीबेन्द्र, भी आ पहुँचे। पत्नी के मुँह से 'गाँव' शब्द सुनते ही वे समझ गए कि बात कहाँ तक पहुँच चुकी है, लेकिन उन्होंने कुछ कहा नहीं। वहीं दूसरी ओर, सुभावी और सुवासिनी दोनों अपने मायके और ससुराल की खींचतान में भीतर ही भीतर झूल रही थीं।

रिवाज़ तो यह है कि पुरुष बाहर दालान में बैठकर बातें करते हैं और महिलाएँ आँगन में। पर यहाँ ऐसा न हो सका। सुभावी दरवाज़े पर गोबर से लीपने का काम कर रही थीं, तभी सुवासिनी और चारों माँ-बेटियाँ वहाँ पहुँच गईं।

पत्नी की बड़बड़ाहट सुनकर जीबेन्द्र दरवाज़े से उठे और सुभावी से बोले- "बातचीत ही करोगी या चाय-पानी भी पिलाओगी?"

सुभावी उन स्त्रियों में नहीं थीं जो पति के सामने वर्चस्व दिखाने के लिए उल्टा जवाब दे बैठें। जीबेन्द्र की बात सुनते ही जैसे किसी गाड़ी ने अचानक ब्रेक लगा दिए हों, वैसे ही वह चुपचाप आँगन की ओर बढ़ गईं।

सुवासिनी और उसकी माँ-बहनों ने क्रम से जीबेन्द्र को प्रणाम किया। इसी बीच धीरेन्द्र भी गोल घेरा बनाकर बैठने के लिए जगह बनाने लगा। जैसे ही वह बैठा, सुभावी चाय लेकर सामने आ गईं। जीबेन्द्र बोले-

"चाय बीच में रख दो और तुम भी यहीं बैठ जाओ।"

वैसे तो दोनों परिवार–सुवासिनी का और धीरेन्द्र का–पूरी तरह एक नहीं हुए थे, लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे एकदम अलग थे। फर्क केवल इतना था कि सुवासिनी के परिवार से रामलखन नहीं थे, जबकि

धीरेन्द्र के घर के सभी सदस्य उपस्थित थे।

चाय पीने के बाद जीबेन्द्र ने सुभावी से पूछा-

"हमारे आने से पहले गाँव में लोग क्या चर्चा कर रहे थे?"

जीबेन्द्र भलीभाँति जानते थे कि समाज में आज भी वही होता है जो वर्षों से चला आ रहा है। किसी सामाजिक आयोजन में कुछ परिवारों के महत्त्वपूर्ण लोग तो पहुँच जाते हैं, लेकिन शेष–जो छोटे या कम महत्त्व वाले समझे जाते हैं–या तो कम पहुँचते हैं या बिल्कुल नहीं। इससे सामूहिकता की भावना में कमी आ जाती है। जब सामाजिक सहभागिता कम होती है, तो समाज की धारा एकरूप नहीं रह पाती। उसका प्रवाह टूटने लगता है, और जब प्रवाह टूटता है, तो धीरे-धीरे सूखने भी लगता है। और जब यह सूखना शुरू होता है, तब यह छोटी दरार से बढ़कर बड़ी खाई बनेगी ही।

संक्षेप में सुभावी बोलीं- "श्याम की बहन सुवासिनी चारों माँ-बेटी है। बेचारी को ससुराल में बहुत कष्ट मिल रहा है, जिससे वह अपने माता-पिता की...।"

बोलते-बोलते सुभावी रुक गईं। बात का सिरा पकड़ते हुए जीबेन्द्र बोले- "बीच में मुँह क्यों बंद कर लिया? क्या यहाँ कोई बाहरी है, जिससे बोलने में झिझक हो रही है?"

पति का सहारा मिलते ही सुभावी को अपनी बात कहने का संबल मिला। मुद्दे की ओर बढ़ते हुए वह बोलीं-

"कहिए कि क्या यह ठीक है कि माता-पिता ने अपने बेटे-बेटी को जीवन की दिशा देकर अच्छा समझा, और वह दिशा यदि मुसीबत बन जाए, तो उसे अच्छा कैसे कहा जाए?"

सुभावी की बात सुनकर सुवासिनी अवाक रह गई, लेकिन जगमोही ने स्वीकारते हुए कहा- "नहीं।"

विचार को आगे बढ़ाते हुए जीबेन्द्र बोले- "बीती बातों का मूल्यांकन होना चाहिए- क्या सही था, क्या अधूरा रह गया। समाधान की दृष्टि से यदि सोचा जाए, तो यह विवेचना समयानुकूल होनी चाहिए, ताकि उसका प्रभाव

स्थिति पर समझा जा सके।"

पिता की बात सुनकर धीरेन्द्र ने जगमोही की ओर देखा और जगमोही ने भी उसकी ओर। पर दोनों ही कुछ कहने को तैयार नहीं थे। उनके मन में स्पष्ट था कि बिना ठोस कारण के पुरानी बातों को फिर से उखाड़ना ठीक नहीं। दोनों समाजशास्त्र के विद्यार्थी थे, यह अच्छी बात थी। अगर इतिहास का विद्यार्थी होता, तो वह तह तक जाता।

उनकी चुप्पी देख जीबेन्द्र बोले-

“देखो, गाँव के अनाड़ी लोग, जो समाज की बुनियाद को नहीं समझते, वे भी कहते हैं कि जब तक धरती पर एक भी धर्मात्मा जीवित है, धरती स्थिर है। और जब धर्मात्मा समाप्त हो जाएँगे, तब धरती भी समाप्त हो जाएगी।"

जैसे सबसे पहले बात को समझने की कोशिश सुभावी ने ही की हो, वह बीच में बोल उठीं-

“हाँ, ऐसा तो होता ही है।”

पत्नी को सँभालते हुए जीबेन्द्र बोले-

“इस तरह जल्दबाज़ी में कुछ कह देने से कोई समाधान नहीं निकलता। जब किसी गाँव या समाज के विषय में सोचना हो, तो पूरे समाज को समग्रता में देखना पड़ता है। आज भी कुछ परिवार ऐसे हैं जो दहेज लेना पाप मानते हैं, और कुछ लोग बिना संकोच उसे उचित मानते हैं। यही दोहरी मानसिकता समाज में विघटन का कारण बनती है। इससे असमान विवाह बढ़ते हैं। और जब विवाह असमान होंगे, तो परिवारों का टूटना निश्चित है।”

ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे जीबेन्द्र अपने विचारों का नया अध्याय खोलना चाहते हों, पर वे अचानक चुप हो गए। तत्क्षण वहाँ एक अजीब-सी चुप्पी फैल गई। सभी के मन में यह विचार उठने लगा, यह अचानक सन्नाटा क्यों छा गया?

वे दो स्त्रियाँ, जो सुबह-शाम अपने बोलचाल से पूरे गाँव को चैतन्य बनाए रखती थीं, यहाँ शांत क्यों थीं? ऊपर से, यहाँ तो उम्र और शिक्षा दोनों

का मान है, फिर भी ऐसा मौन क्यों?

वैसे, दहेज का नाम सुनते ही सुवासिनी के भीतर पीड़ा की लहर उठी थी, पर समाज के बीच बैठे होने के कारण उसने अपने भावों को नियंत्रित कर लिया।

कुछ देर बाद, जिज्ञासावश सुवासिनी बोली-

"काकाजी, हम लोग एक महीने के लिए आए हैं। पूरा आम का मौसम यहीं बिताएँगे।"

जीबेन्द्र बोले-

"अच्छा विचार है। हमें तो पता ही नहीं था कि आप लोग आए हैं। पहले ही ठिकाना बता देते तो विचार-विनिमय और सहज हो जाता।"

सुवासिनी ने आँखों के इशारे से बात जगमोही को सौंप दी।

जगमोही आदरपूर्ण स्वर में बोली-

"नानाजी, मेरा नाम जगमोही है। बी.ए. ऑनर्स में पढ़ रही हूँ। विषय है, समाजशास्त्र।"

जगमोही का परिचय सुनकर जीबेन्द्र बोले-

"धीरेन्द्र भी पटना में पढ़ता है। क्या तुम दोनों की आपस में कोई पहचान है?"

इस प्रश्न पर जगमोही थोड़ी असहज हो गई। उसका ऐसा होना स्वाभाविक था। आज का सामाजिक वातावरण, सही दिशा से भटककर उल्टी दिशा में तेजी से बढ़ता प्रतीत होता है। ऐसे में स्वयं को सँभाल कर रखना आवश्यक हो गया है।

उसने संयमित स्वर में उत्तर दिया- "अच्छी तरह से परिचय तो नहीं है, लेकिन पहचानते अवश्य हैं।"

जीबेन्द्र ने पूछा- "कितने भाई-बहन हो?"

'भाई-बहन' शब्द सुनते ही जगमोही का चेहरा उतर गया। मन बुझ-सा गया। वह धीमे स्वर में बोली- "हम तीन बहनें ही हैं।"

भाई का न होना और केवल तीन बहनों का होना सुनकर जीबेन्द्र के भीतर कुछ बज-सा उठा। पर जीवन और समाज के विशाल परिदृश्य के आगे मन की हल्की चुभन का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। जल्दबाज़ी में कोई निर्णय लेना उचित नहीं। जब किसी कार्य को कम समय में पूरा करने की आकांक्षा होती है, तो उसके पीछे तप की आवश्यकता होती है। बिना तप के कोई भी निर्णय स्थायी नहीं होता, उसका परिणाम संदिग्ध ही रहता है।

जीबेन्द्र का परिवार कोई बहुत जटिल या उलझा हुआ इतिहास नहीं रखता। उनका जीवन सीधा-सपाट है। और सपाटपन भी अनेक प्रकार के होते हैं, सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक, व्यवहारिक। फिलहाल बात केवल इतनी है कि उनके लिए बेटे-बेटियों के विवाह, संबंध और व्यवहार ही इतिहास का केंद्र है।

उनके परिवार ने कभी दहेज को रिश्ते की शर्त नहीं बनाया। यह विश्वास आज भी जीबेन्द्र के भीतर जीवित है। हालाँकि यह कहना भी गलत होगा कि प्रेमनगर में केवल उनका ही परिवार ऐसा है। कई जातियों और परिवारों में आज भी ऐसे आदर्श जीवित हैं।

इसी विश्वास से आज के युवाओं को जल्दी स्वतंत्रता मिलती है। और जहाँ स्वतंत्रता मिलती है, वहाँ माता-पिता के विचार भी समय के साथ बदलते हैं। विचारों का बदलना बुरा नहीं। पिता-पुत्र और परिवारों के बीच सौहार्द बना रहे, यही सोच मनुष्य को हर कदम पर साथ रखनी चाहिए।

परिवारों में टूटन केवल दहेज के कारण नहीं आती। इसके पीछे और भी कई दरारें होती हैं, जिनमें सबसे बड़ी दरार वैचारिक होती है। हर मनुष्य, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, अपने गुण और स्वभाव लेकर चलता है। इन गुणों को परिवार और व्यवहार की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना, यह हर घर की ज़िम्मेदारी होती है।

सोच की लहरों में डूबते-उतरते हुए जीबेन्द्र ने पूछा- "और कितने दिन की पढ़ाई बाकी है?"

जगमोही ने उत्तर दिया- “घर की स्थिति को देखते हुए अभी बी.ए. तक ही पढ़ने का विचार है। आठ महीने और शेष हैं।”

जीबेन्द्र ने अगला प्रश्न किया-

“उसके बाद क्या सोचा है?”

भविष्य की बात सुनते ही जगमोही का मन पल भर में मुरझा गया। जैसे किसी का सिर कट जाए और वह अपने रक्तप्रवाह को धुँधला-धुँधला महसूस करे, वैसे ही उसके विचारों में उदासी घुल गई। कटते रास्तों और बुझती उम्मीदों के बीच वह धीमे स्वर में बोली-

“अभी कुछ तय नहीं किया है।”

दरअसल, जीबेन्द्र के मन में यह था कि शायद जगमोही ने अपने भविष्य के लिए कुछ सोचा होगा। लेकिन जीवन की कठिनाइयों और अनिश्चितताओं को देखकर उसने अभी कोई निर्णय नहीं लिया था। यह उचित ही था, इस विकराल होते समाज में, एक स्त्री के जीवन के साथ अक्सर मज़ाक ही तो किया जाता है।

जगमोही ने अपनी परिस्थितियों के अनुरूप ही उत्तर दिया था, पर जीबेन्द्र का ध्यान उस भावुक सत्य की ओर नहीं गया। उनका ध्यान केवल उसके उत्तर की गंभीरता और सन्नाटे पर टिक गया।

उन्होंने पूछा-

“पिताजी क्या करते हैं?”

जगमोही ने उत्तर दिया-

“पटना में नौकरी करते हैं। उसी से घर का ख़र्च चलता है।”

जगमोही की बात सुनकर जीबेन्द्र के मन में कई तरह के विचार उमड़ आए, लेकिन उन सभी को एक ओर रखकर उन्होंने धीरेन्द्र से कहा, “बौआ, ये तुम्हारे हाथ के लगाए हुए आम हैं। सबको बाँटो।”

गुलाब खास और बम्बइया आम धीरेन्द्र पटना से लौटते ही टोकरी भर लाया था। दो ही दिन में वे आम खाने के लायक पक गए थे।

एक-एक आम सबको देने के बाद जीबेन्द्र बोले, “पूरा अमैया रहोगे न?”

जगमोही ने जवाब दिया, “हाँ।”

जीबेन्द्र ने कहा-

“इस बार हमारे प्रेमनगर में खूब आम फले हैं।”

मुस्कुराते हुए जगमोही बोली, “नानाजी, हर साल आया करेंगे।”

विचारों की लहर में बहते जीबेन्द्र के मुँह से अनायास निकल पड़ा-

“हर साल क्यों, साल-दर-साल यहीं बस जाओ।”

नहले पर दहला देते हुए जगमोही बोली, “इस गाँव के लोग रहने देंगे, तब न?” ❑

8

जगमोही को मायके और सुवासिनी को मायके आए पंद्रह दिन बीत चुके थे। महीना एक आधा उतर चुका था और दूसरा आधा चढ़ने लगा था। आषाढ़ की पहली झमाझम बारिश भी परसों रात को हो चुकी थी। धरती में आद्रा नक्षत्र की नमी समा गई थी। नया मौसम दस्तक दे चुका था, और उसके साथ जन-जीवन, जन-मन और जन-धन में एक नई गहराई उतर आई थी।

प्रेमनगर के किसान जाग चुके थे। यहाँ खेती की एक सीधी कसौटी है, जो किसान चावल के साथ बाहर की कोई चीज़ नहीं मिलाता, वही असली कृषक कहलाता है। भोजन यहाँ किसान की पहली और पवित्र सेवा मानी जाती है। कपड़े भी इसी मिट्टी की उपज, इसी धागे से बनते हैं।

दुख इस बात का है कि पहले गाँव-गाँव में करघे चलते थे; खादी भंडार उनका केंद्र हुआ करता था, जहाँ से आमदनी का प्रवाह बना रहता था। पर अब यह सब बिखरकर पूरी तरह बाज़ार के हवाले हो गया है। पटुआ की खेती भी पीछे छूट गई, क्योंकि उसका अगला सहारा–कारखाना–कभी ठीक से खड़ा ही नहीं हो पाया। इस प्रकार किसानों की नगदी खेती भी धीरे-धीरे हाथ से निकलती चली गई।

जो बीत गया, उसे बीत जाने दो। अब भविष्य धान और जूट पर टिका है।

मौसम बदला तो प्रेमनगर के किसानों ने भी स्वयं को उसी के अनुरूप ढाल लिया। बारिश की दस्तक के साथ ही खेतों में हल की धार चमक उठी। ऐसा प्रतीत हुआ मानो धरती माँ के आँगन में कोई शुभ संदेश आ गया हो।

पंद्रह दिन कैसे बीत गए, न जगमोही को पता चला, न सुवासिनी को। प्रेमनगर की हवा और पानी ने दोनों को अपने जादू में बाँध लिया। पटना के

घर से संपर्क बना रहा, इसलिए मन में कोई संशय भी नहीं उठा और न ही दूरी की टीस महसूस हुई। सोच अपनी-अपनी होती है। दो लोग यदि एक ही रास्ते पर चलें, तब भी दाएँ-बाएँ की दूरी बनी रहती है। जहाँ जीवन है, वहाँ अलग-अलग नज़रिए और अलग-अलग रास्ते तो होंगे ही।

अब आम का मौसम भी अपने शबाब पर है। रोहनिया, बंबई और गुलाबखास उतर चुके हैं; कृष्णभोग, मालदह, सबुजा और जरदालू पकने को तैयार हैं। कुछ खट्टे और सड़े फल भी पेड़ों पर टिके रहते हैं, लेकिन प्रेमनगर के लोग परखना जानते हैं। जो धान की असली कीमत समझता है, वह खखड़ी को कैसे धान मान लेगा! यही प्रेमनगर के गृहस्थ जीवन की सच्चाई है।

पर प्रेमनगर केवल घर-आँगन तक सीमित नहीं है। वह बाहर की दुनिया को भी देखता है और उसे यह दिखा देता है कि उसकी अपनी एक विशिष्ट पहचान है।

सुवासिनी के जीवन में जो भूकम्प आया था, वह इन पंद्रह दिनों में धीरे-धीरे शांत होकर समतल ज़मीन में बदल गया था। उसे अब समझ आ गया था, दुनिया बहुत बड़ी है, और हर किसी को अपने दृष्टिकोण से रास्ता चुनना होता है।

इसी सोच में डूबी सुवासिनी, अब अपनी बेटी जगमोही की शादी के विषय में भी अधिक संतुलित सोच पर पहुँच गई थी। अब तक वह मानती थी कि जितना अधिक बेटी पढ़ेगी, जितनी ऊँची डिग्री लेगी, उतना ही अधिक दहेज देना पड़ेगा। लेकिन नए मौसम के साथ-साथ समाज में सोच के तराजू भी बदलने लगे हैं।

ख़ैर, जैसा है, जहाँ है- वहीं से आरंभ हो। प्रेमनगर के लोग आज भी अपने उस विश्वास पर अडिग हैं कि जब मनुष्य में निर्माण की शक्ति मौजूद है, ओम् नर नारायणम्, तब दुनिया में उठती कोई भी लहर हो, उसे समझना होगा और उसी के साथ आगे बढ़ना होगा।

जिंदगी के एक नए मोड़ पर खड़ी जगमोही, इन पंद्रह दिनों में संगी-

साथिनों के बीच इस तरह घुल-मिल गई कि बीते और आने वाले पंद्रह दिनों का अंतर उसके लिए एक-सा लगने लगा। ये पंद्रह दिन उसके लिए हँसी-ठिठोली, अपनापन और सृजन की सहज साधना से भरे रहा।

नई-नई सहेलियों के बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ, किस स्कूल की क्या स्थिति है, कौन-सा कॉलेज कैसा है, गाँव-देहात और शहर-बाज़ार में क्या फर्क है, सब समझा और सबको समझाया भी।

आज सुबह जीबेन्द्र ने धीरेन्द्र से कहा-

"बौआ, पंद्रह दिन बीत गए। अब तेरी बाईस दिन की छुट्टी बची है। अपने परिवार में तो सब आम हैं ही, पर जो पेड़ तूने अपने हाथ से लगाए हैं, उनके आम तो खाकर जाना।"

पिता की बात सुनकर धीरेन्द्र कुछ पल के लिए ठिठका। मन में विचार उठा, उसने जो पाँच पेड़ लगाए थे, वे पूरे आम-ऋतु को समेटते हैं। मौसम की शुरुआत से लेकर अंत तक फल देने वाले। यही सोचकर उसने क्रमशः गुलाबखास, बंबई, सपेता, मोहनठाकुर और राड़ी लगाए थे।

धीरेन्द्र की चुप्पी देख जीबेन्द्र ने फिर कहा-

"बौआ, तेरी नज़र मोहनठाकुर और राड़ पर भी होगी, लेकिन उनका समय अभी नहीं आया है। वे आने वाले समय के आम हैं, जब तू गाँव में रहेगा, तब खाएगा। अभी तो डेढ़ महीने की छुट्टी में तीन किस्म के आम पक चुके हैं। कम से कम उन्हें तो खा ले। और जो तुम्हारा पटना वाला साथी है, उसे भी खिलाना।"

जैसे सुबह का जागता हुआ सूर्य अपने प्रकाश और ऊर्जा से धरती को जागृत करता है, वैसे ही नवयुवक धीरेन्द्र ने भी अपनी ज़िंदगी को अपने हाथों सँवारने की सोच उसी दिन बोई थी, जिस दिन उसने एक नए मौसम का एक नया रंग लेकर ये पाँच आम के पेड़ लगाए थे।

धीरेन्द्र ने तो एक पूरे मौसम की मेहनत लगाई थी, लेकिन जो व्यक्ति केवल एक दिन के लिए भी मन से प्रयास करे, उसकी ज़िंदगी भी फल देने लगती है। मनुष्य, मनुष्यता की श्रेष्ठतम रचना है, वह कोई पेड़-पौधा या पशु

नहीं, जो केवल मौसम के अनुसार जिए या मिट जाए। वह दुनिया के किसी भी कोने को अपना घर बना सकता है, और अपने अनुकूल मौसम खुद रच सकता है, चाहे वह सहारा का तपता मरुस्थल हो या साइबेरिया की बर्फीली ज़मीन।

संयोग भी नियति का ही एक विशेष रूप होता है। जीबेन्द्र के लिए यह संयोग असाधारण रूप से अनुकूल सिद्ध हुआ। कभी परिस्थितियाँ पूर्णतः प्रतिकूल होती हैं, और कभी सब कुछ अपने पक्ष में होता है। इस बार हालात वास्तव में उसके अनुकूल थे।

पहला कारण, धीरेन्द्र के लगाए आम के पेड़ अब फल देने लगे थे।

दूसरा, जीबेन्द्र के मन में यह विश्वास गहराता जा रहा था कि यदि कन्यादान महादान है, तो इससे बड़ा पुण्य और कहाँ मिलेगा। सुवासिनी की बेटी की पीड़ा से पीड़ित होकर जीबेन्द्र भी अब मन-ही-मन उस दिशा में बढ़ रहे थे, जहाँ इस पीड़ा का कोई समाधान दिखाई देने लगा था।

यदि धीरेन्द्र के विचार को परिवार में स्वीकार कर लिया जाए, और अगर उसकी माँ सुभावी भी राज़ी हो जाएँगी। आखिर, जब कोई पैर छूकर आशीर्वाद ले और वहाँ महादेव और पार्वती एक साथ दान-वरदान में खड़े हों, तो लेने वाला भी खाली क्यों लौटे?

इस तरह के विचार जीबेन्द्र के मन में सात दिन पहले भी आए थे। पिछले रविवार, सुवासिनी अपनी तीनों बेटियों के साथ टहलते-टहलते जीबेन्द्र के घर पहुँच गई थी। चारों ने क्रम से उनके चरण स्पर्श किए। जैसे ही उनके पैर लगे, जीबेन्द्र का मन ऐसे उमड़ पड़ा, जैसे चढ़ते हुए दूध की सतह पर अचानक फेन उभर आता है।

उन्होंने तुरंत जगमोही को आशीर्वाद देते हुए कहा कि उसे मनचाहा घर और वर मिले। सुवासिनी ने सहमति में कहा-

"बुजुर्गों के विचार झूठ थोड़े ही होते हैं।"

उनके जाने के बाद सुभावी ने अपने शुभभाव जीबेन्द्र के मन पर रखते हुए कहा- "सुवासिनी की बड़ी बेटी जिस घर में जाएगी, वहाँ साक्षात

लक्ष्मी का वास होगा।"

पत्नी की इस बात में जो अतिरिक्त मिठास थी, उसे देखकर जीबेन्द्र के मन में यह जिज्ञासा जागी कि यह मिठास केवल ऊपर से है या भीतर से भी उतनी ही सच्ची है।

मन में यह भी विचार उठ रहा था कि आज के समय में गाँव की ज़िंदगी और बाज़ार की ज़िंदगी के बीच जो खाई बन रही है, उसका संतुलन साधना कोई साधारण बात नहीं है। यह बाल-बोध का खेल तो है नहीं, एक गहरी समझ और निरंतर प्रयास का विषय है।

मनुष्य ही वह प्राणी है जो कभी संघटन करता है, तो कभी विघटन भी करता है।

एक तीसरा विचार भी जीबेन्द्र के मन में चल रहा था। मान लो, यदि धीरेन्द्र आम तोड़ने निकला और पूरे पेड़ पर बल्लियाँ चल गईं, तो सुभावी जरूर कहेगी-

"पहले वाले पेड़ की ओर जाओ।" वहाँ औरतें इकट्ठी होंगी, बातें होंगी, और जब धीरेन्द्र तथा उसकी माँ के विचार सामने आएँगे, तो धीरे-धीरे सभी अपने-अपने विचार मिलाकर परिवार को एक सूत्र में पिरोने की कोशिश करेंगे।

ऐसे परिवारों को देखकर लोग प्रेरणा लेते हैं, किंतु अब विघटन का माहौल भी गंभीर होता जा रहा है।

सब देख रहे हैं कि माता-पिता अपने बच्चों को पूर्ण समर्पण के साथ शिक्षित करते हैं, परंतु जब वे व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करते हैं और नौकरी के क्षेत्र में कदम रखते हैं, तब परिस्थितियाँ बदलने लगती हैं। एक भाई कॉलेज में शिक्षक बनता है, जबकि दूसरा हाईस्कूल में। दोनों की आय में उत्पन्न अंतर धीरे-धीरे भाइयों के बीच दूरी और विघटन का कारण बन जाता है।

इसके अतिरिक्त, यदि संयोगवश ऐसा हो कि एक भाई के यहाँ बेटों की संख्या अधिक हो और दूसरे भाई के यहाँ बेटियाँ अधिक हों, तो यह भेद

भी मनमुटाव और अलगाव को जन्म दे सकता है। हालाँकि, अभी वह समय नहीं आया था। एक स्वतंत्र देश का नागरिक होने के नाते जीबेन्द्र के मन में यह दृढ़ विश्वास था कि समाज भी हमारा है और देश भी, और हमें दोनों की सेवा करने का समान अधिकार है।

पर सेवा कैसी? सेवा तीन प्रकार की होती है- एक, केवल देना; दूसरा, देना-लेना; और तीसरा, केवल लेना। हर व्यक्ति, हर समुदाय का अपना-अपना स्वभाव, सोच और दिशा होती है।

इसीलिए जीबेन्द्र के मन में यह निर्णय भी ठहर गया कि जीवन में "देने" का भाव ही अधिक होना चाहिए, लेने से कम। व्यक्तिगत जीवन और पारिवारिक जीवन में फ़र्क होता है। व्यक्तिगत जीवन का मार्ग अपेक्षाकृत सीधा और समतल हो सकता है, पर पारिवारिक जीवन में सम-विषम दोनों स्थितियाँ बनी रहती हैं।

यही सम-विषमता व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के बीच मूल अंतरों को जन्म देती है। चार बजे का समय था। धीरेन्द्र ने पिता से पूछा-

"पिताजी, आम के पेड़ तो बड़े हैं। अकेले आम कैसे तोड़ पाऊँगा?"

बेटे की बात सुनकर जीबेन्द्र बोले-

"बौआ, जो काम तू करने जा रहा है, उसके लिए व्यवहारिक समझ ज़रूरी है। मैं तो बस कह सकता हूँ, लेकिन यह ज़रूरी नहीं है कि वहाँ वही परिस्थिति हो।"

धीरेन्द्र ने कहा- "हाथ से पकड़ में आए आम तो आसानी से तोड़े जा सकते हैं, लेकिन जो ऊँचाई पर लगे हैं, वे तो...।"

मुस्कुराते हुए जीबेन्द्र बोले- "बौआ, हाथ से तोड़ने में भी भेद होता है। एक आदमी फल की जड़ पकड़कर तोड़ता है और दूसरा डाल की कलिका के पास से। बताओ, कौन-सा तरीका ज़्यादा उचित और बेहतर है?"

पिता का यह प्रश्न सुनकर धीरेन्द्र ठिठक गया। उसके मन में विचार उठा कि चाहे काम छोटा हो, पर उसे सोच-समझकर करना ही ठीक होता

है। आखिर, फल को मिट्टी पर गिरने से बचाना चाहिए। बस, इतना ध्यान रखने से ही काम सुंदर और सटीक होता है।

उधर, सुभावी अपनी गाछी-कलम देखने गई। रास्ते के किनारे पहली गाछी श्याम की थी। वहाँ सुवासिनी आमों को निहार रही थीं, तभी उसकी नज़र सुभावी पर पड़ी। देखते ही वह मुस्कुराकर बोली-

"चाची, ज़रा छाँव में आराम कर लीजिए। गाछी-कलम कहीं भागा तो नहीं जा रहा है?"

सुभावी के मन में भी सुवासिनी से बात करने की इच्छा थी। पर चूँकि यह श्याम की गाछी है, इसलिए पहल करने में संकोच था। सुवासिनी की बात ने रास्ता बना दिया, और वह पास की मचान पर बैठ गईं।

उधर, जगमोही अपनी सहेलियों के साथ बगल के पेड़ के नीचे छोटे बच्चों के साथ नाटक खेल रही थी। नाटक का विषय आज के समय की सामाजिक स्थिति से जुड़ा था, समाज के नाटक से अलग, यह व्यक्ति के जीवन-नाटक की भूमिका थी।

सुभावी को सुवासिनी से बात करते देखकर जगमोही भी अपनी नई बनी सखियों के साथ वहीं पहुँच गई। इसी बीच, सुभावी ने अपने घर की बात छेड़ते हुए कहा-

"बौआ के पिता कह रहे थे कि जो आम के पेड़ उसने अपने हाथों से लगाए हैं, उनसे पंद्रह दिन तक गुलाबखास और बंबई खाए गए। अब आषाढ़ भी आ गया है और छुट्टी भी आधी बीत गई है, इसलिए सपेता और मालदह आज ही तोड़कर पाल पर रख दो। तुम भी खाओ और अपने साथियों को भी खिलाओ।"

उसी समय, जगमोही के साथ-साथ कई छोटी बच्चियाँ भी आकर सुभावी के पैर छूने लगीं। एक साथ इतने आशीर्वाद देने पड़े कि सुभावी थोड़ी-सी अकबका गईं। सामूहिक आशीर्वाद देते हुए उन्होंने मुस्कराकर कहा-

"सब आम खाने के लिए मेरे घर आना!"

दूध के फेन की तरह उफनता हुआ सुभावी का मन यूँ ही बना रहता था। इसलिए उनकी बातों में रुकावट आना मुश्किल था। तभी प्रेममोही बोली-

"चाची, एक पुतोहू ला दी है हमने।"

उफनते मन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया में सुभावी बीच सभा में बोल उठीं- "जब तुम ला ही दी हो, तो मैं उसे फेंक थोड़े ही दूंगी!"

बातें संकेतों में चलती रहीं, पर पंद्रह दिनों की उठापटक में श्याम और जीबेन्द्र दोनों ही परिवारों में अपनापन धीरे-धीरे गहराता गया।

एक जगह रहने या बार-बार मिलने-बैठने से प्रेम परवान चढ़ता है। चाहे वह अपना हो या पराया, अपनी जाति का हो या किसी अन्य जाति का। और इसी तरह, जब दूरी बढ़ती है, तो रिश्तों में भी दूरी आ जाती है।

जानवरों में भी यही दृश्य देखने को मिलता है कि सूखे के समय वे सब एक स्थान पर इकट्ठा हो जाते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उनके जीवन में कोई सामाजिक सरोकार या जीवन सरोकार है।

बातचीत के दौरान लोग प्रायः सभी जीवों को एक-दूसरे के समान मान लेते हैं, लेकिन वह वैचारिक गहराई, संवेदनशीलता और सामाजिक उत्तरदायित्व, जो मनुष्य में होता है, वह अन्य जीवों में कहाँ?

मनुष्य का जीवन दो मुख्य केंद्रों पर आधारित होता है- एक, परिवार और दूसरा, समाज।

यदि पशु मनुष्य के लिए पोषक सिद्ध होते हैं, तो मनुष्य न केवल उनकी समुचित देखभाल करता है, बल्कि उन्हें परिवार का हिस्सा मानकर उनसे दूध, श्रम और सेवाएँ भी प्राप्त करता है।

जो लोग पशु-पक्षियों को मनुष्य के समकक्ष मानते हैं, उनकी सोच केवल जीव के जीवन से संबंधित है।

वे यह नहीं देख पाते कि वही जीव न तो परिवार बनाते हैं, न सामाजिक जीवन जीते हैं, और न ही सामाजिक मूल्यबोध का वह स्तर

उनके व्यवहार में होता है, जैसा मनुष्यों में अपेक्षित है।

हाँ, यह भी एक सत्य है कि जब मनुष्य अपने कला-कौशल और प्रशिक्षण द्वारा पशु-पक्षियों में कुछ विशेष गुण भर देता है, तब वे मनुष्य जैसे व्यवहार करने लगते हैं। कहीं-कहीं तो श्रेष्ठ कलाकारों की संगति में वे पशु-पक्षी मनुष्यों से भी अधिक अनुशासित और गुणवान प्रतीत होते हैं।

लेकिन यहीं एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है, यदि मनुष्य को भी इसी प्रकार से सिखाया-पढ़ाया जाए जैसे पशु-पक्षियों को सिखाया जाता है, तब वह क्या हो सकता है? ❑

9

कॉलेज की छुट्टियाँ कल समाप्त हो जाएँगी। रात वाली गाड़ी पकड़कर पूरा परिवार, सुवासिनी और धीरेन्द्र भी पटना लौटेंगे।

अगस्तगामी समय सुवासिनी अपनी तीनों बेटियों के साथ जीबेन्द्र के घर पहुँचीं। इससे पहले श्याम वहाँ पहुँच चुके थे और दरवाज़े पर बैठकर जीबेन्द्र से बातें कर रहे थे। सुवासिनी यहाँ बिना रुके सीधे आँगन चली गईं। उन्हें देखते ही सुभावी ने ओसारे पर बिछावन बिछाकर सभी को बैठने को कहा।

जीबेन्द्र और श्याम इस विषय पर चर्चा कर रहे थे कि आज के समय में कन्यादान परिवारों के लिए कितनी जटिल समस्या बन गयी है। जीबेन्द्र श्याम से कह रहे थे-

"बौआ श्याम, तुम्हारी उम्र चालीस से कम है, लेकिन मैं तो साठ के पार पहुँच चुका हूँ। बेटियों की शादी में कैसी-कैसी कठिनाइयाँ आईं, यह हमने खूब देखा है।"

श्याम ने सहमति जताते हुए कहा-

"आपने जितने सुख-दुख और जीवन के उतार-चढ़ाव देखे हैं, उतने अनुभव तो मुझे नहीं हैं। आज भले ही नए माहौल में विभिन्न सम्प्रदायों के विद्यालयों का अलग-अलग व्यवहार देखने को मिलता हो, पर मिथिला की जीवन-दृष्टि आज भी अडिग है। यहाँ जीवन की कसौटी और जिम्मेदारी हमेशा से अलग रही है।"

श्याम की बातों को आगे न बढ़ाते हुए जीबेन्द्र ने विषय बदल दिया, क्योंकि वे देख चुके थे कि सुवासिनी और उनकी बेटियाँ आँगन में आ चुकी हैं। आँगन और दरवाज़े के बीच एक पतली-सी रेखा ही तो होती है। वे बोले-

"जगमोही की शादी की बात चला रहे हो क्या?"

श्याम ने उत्तर दिया- "सुवासिनी चाहती हैं कि बी.ए. पूरा होने के बाद ही शादी की बात की जाए।"

जीबेन्द्र ने कहा- "बहुत अच्छा विचार है। अगले साल तक धीरेन्द्र की शादी भी कर लेंगे।"

जीबेन्द्र को पहले ही अपनी पत्नी और धीरेन्द्र की सहमति मिल चुकी थी, इसलिए उनका मन भी आगे बढ़ चुका था और बात सहज रूप से उनके मुँह से निकल गई।

'बहुत अच्छा विचार।' यह बात जीबेन्द्र ने मन ही मन कही थी, लेकिन श्याम को यह सुनकर कुछ बुरा लगा। कारण यह था कि आज का समाज फिर उसी अनिश्चित दौर की ओर लौट रहा है, जहाँ न तो पहचान स्थिर रहती है, न जीवन की दिशा। माता-पिता को अगर अपने बेटे-बेटी के सेवा के लिए अदालत जाना पड़ जाए, तो इसे क्या कहेंगे?

श्याम ने कहा- "चाचाजी, कल जब सब कोई जाएँगे, तो अच्छा होगा कि सभी एक साथ जाएँ।"

जीबेन्द्र बोले- "जीवन की असली परीक्षा यही है, जिसमें अपने और दूसरों के परिवार के बीच संबंधों की सच्ची कसौटी सामने आती है।"

आँगन में ओसारे पर बैठते ही सुवासिनी ने जगमोही से कहा- "बिटिया, चाची को चाय बनाने में मदद कर दो।"

सुभावी कुछ नहीं बोली। चाय बनाने की सारी सामग्री वह पहले ही चूल्हे के पास रख चुकी थी।

चाय बन गई। जगमोही की छोटी बहन फुलकुमारी दो कप चाय लेकर दरवाज़े पर पहुँची। उसे देखते ही श्याम ने नज़रें नीचे कर लीं, पर जीबेन्द्र की आँखें उसकी ओर उठ गईं। हाई स्कूल में पढ़ने वाली फुलकुमारी, जो जगमोही से चार साल छोटी थी, अब किशोरावस्था की दहलीज़ पर आ चुकी थी।

उसे देखकर जीबेन्द्र के मन में यह टीस उठी कि आज के समय में बेटियों की शादी कितनी बड़ी चुनौती बन गई है। सुवासिनी को एक संग

आगामी दस–पंद्रह वर्षों तक कठिनाइयों से जूझना पड़ेगा।

चाय की चुस्की लेते हुए जीबेन्द्र बोले- “सुवासिनी की यह बेटी भी जगमोही जैसी ही दिखती है।”

जीबेन्द्र की बात सुनकर श्याम ने कहा-

“तीनों बहनों की काया और बनावट एक जैसी ही है।”

जीबेन्द्र मुस्कराए और चिंतक की भांति बोले-

“जिसकी गर्दन में ढोल पड़ता है, उसे बजाना ही पड़ता है। पर...।”

श्याम ने उत्सुकता से पूछा-

“पर क्या?”

जीबेन्द्र कुछ क्षण सोचते रहे और फिर चिंतनशील मुद्रा में बोले-

“ऐसा है कि परिवार और समाज दोनों में विकृति बढ़ती जा रही है। जैसे भाइयों के बीच दूरी बढ़ती है, वैसे ही समाज में जाति, बिरादरी, हित-अहित के बीच भी इतना अंतर आ गया है कि अब किसी की पीड़ा कोई सुनना नहीं चाहता और न ही अपने कर्तव्य का भागीदारी बनना चाहता है।”

जीबेन्द्र अपनी बात बहुत स्पष्ट ढंग से कह रहे थे, लेकिन श्याम को वह उतनी स्पष्ट नहीं लगी। उसने पूछा- “क्या मतलब?”

जीबेन्द्र ने परिवार से समाज तक की स्थिति को समझाते हुए कहा-

“यह देखा जा रहा है कि बच्चों की पढ़ाई-लिखाई या शादी जैसे बड़े काम परिवार की साझा जिम्मेदारी नहीं रह जाते, बल्कि सिर्फ एक व्यक्ति की निजी चिंताएँ बन जाती है। समाज में भी पहले जैसे भोज-कार्य में लोग मदद करते थे, वैसे ही सहयोग अब पढ़ाई-लिखाई में नहीं मिल पाता। और शादी-विवाह में तो सहायता अब लगभग खत्म हो गई है।”

श्याम को अब भी बात थोड़ी उलझी लगी। वह बोला- “चाचा, बात पूरी तरह समझ में नहीं आई।”

श्याम के दोबारा पूछने पर भी जीबेन्द्र के चेहरे पर कोई खीझ नहीं थी। वे शांत स्वर में समझाते रहे- “देखो, अब परिवार के भाइयों में और

समाज के विभिन्न वर्गों के बीच ऐसी सोच बनती जा रही है कि हर कोई दूसरे को नीचा दिखाकर खुद ऊपर उठना चाहता है। जब यह सोच पनप जाती है, तब परिवार और समाज की जो एकता और सामूहिक भावना होती है, वह धीरे-धीरे टूटने लगती है।”

इस बार श्याम को बात समझ में आ गई। उसने सहमति में सिर हिलाया और कहा- “यह टूटन तो आनी ही है। लेकिन इससे निकलने का कोई रास्ता भी तो होना चाहिए।”

श्याम की बात सुनकर जीबेन्द्र उसकी सोच की गहराई को समझ गए। वे मन ही मन बोले कि अथाह पानी में भी कहीं न कहीं ज़मीन होती है। जब तक पैर ज़मीन पर न टिके, डूबने का डर बना रहता है, लेकिन जैसे ही पैर ज़मीन को छूता है, खड़े होने की संभावना बन जाती है। फिर बोले-

“बेटा श्याम, दुनिया की हर ऊँच-नीच, हर टेढ़ापन और सीधापन को पहचानना ज़रूरी है। लेकिन हम पहचान ही नहीं पाते।”

श्याम थोड़ा अचंभित होकर बोला- “मतलब?”

जीबेन्द्र ने गंभीर स्वर में कहा- “परिवार और समाज में जिस व्यक्ति पर दुख का पहाड़ टूट रहा हो, उसे पहचानकर उसके दुख को बाँटना चाहिए। उसे संभालने का प्रयास करना चाहिए। पर अब यह भावना ख़त्म होती जा रही है।”

श्याम थोड़े समय तक कुछ नहीं बोला। उसके चेहरे पर चिन्ता और मानसिक बोझ साफ़ दिख रहा था। लेकिन अंदर उसके मन में विचारों की लहरें उठ रही थीं। उसने गहरी और दुखभरी नज़र से जीबेन्द्र की ओर देखा।

श्याम के बुझते चेहरे को देखकर जीबेन्द्र बोले-

“बौआ, मनुष्य बंदर से विकसित हुआ है, इसलिए अनुकरण करना उसके स्वभाव में है। अब सोचो, अपने यहाँ बेटियों की शादी में दहेज का जो राक्षसी रूप बन गया है, उसकी जड़ कहाँ है, समझते हो?”

श्याम ने सिर हिलाते हुए कहा- “नहीं।”

‘नहीं’ सुनते ही जीबेन्द्र बोले- “रामायण में राम को भी जनकपुर से

सामान से लदी गाड़ियों की लंबी कतार के साथ विदा किया गया था। यह तो पुराण की बात है। लेकिन यदि इतिहास की कड़ी में देखें तो राजा-महाराजाओं ने भी अपनी बेटियों को गाँव-का-गाँव अपनी बेटी के 'खोंइछ' या जमाई को देते थे। वही दिखावा धीरे-धीरे समाज के निचले स्तर तक उतरता गया। और उतरते-उतरते यह प्रथा समाज की अंतिम पंक्ति तक पहुँच गई। अब यही विकृति राक्षसी जबड़े की तरह समाज को निगलती जा रही है। यह ऐसा रोग बन चुका है जो कोढ़ की तरह भीतर ही भीतर समाज को खोखला कर रहा है। और हम सब बस एक-दूसरे का तमाशा देख रहे हैं।"

तीस दिन पूरे होने को हैं। परसों से पढ़ाई फिर शुरू हो जाएगी। पिछले तीन-चार दिनों से धीरेन्द्र पटना लौटने की तैयारियों में जुटा था, जबकि सुवासिनी का परिवार हर बीतते दिन को गिन-गिन कर जी रहा था।

सुबह से पहले ही, जब नींद अधूरी थी और चादर अभी तक शरीर पर पड़ा था, धीरेन्द्र आज और कल के बीच की सीमा पर खड़ा होकर मन ही मन जीवन का हिसाब-किताब जोड़ने लगा।

आठ महीने बाद पटना की पढ़ाई पूरी हो जाएगी। नौकरी करनी नहीं है, तो गाँव लौटना ही होगा। लेकिन सिर्फ पटना तो छूटेगा नहीं, उसके साथ कॉलेज की पढ़ाई भी समाप्त हो जाएगी। केवल कॉलेज ही क्यों, उन बाहरी शिक्षकों की शिक्षा भी समाप्त हो जाएगी। अब तक जो भी सीख और समझ मिली है, वही मेरी असली पूँजी होगी।

उसी के सहारे जीवन की धारा में पैर टिकाकर आगे बढ़ना होगा। यदि ज्ञान साथ देगा तो जीवन आगे बढ़ेगा, अन्यथा बीच में ही डूबने का डर बना रहेगा।

आठ महीने का प्रवासी जीवन। इसके बाद फिर वही रामा, वही कठोला। इन्हीं आठ महीनों में विद्यार्थी जीवन की अंतिम परीक्षा भी देनी है।

जैसे प्रकृति वसंत से लेकर शिशिर तक हर ऋतु में अपनी विशेषता गाती चलती है, वैसे ही धीरेन्द्र भी अपने जीवन के वसंत से शिशिर तक की रूपरेखा मन में खींच रहा था। जीबेन्द्र भी बेटे को शिक्षा भूमि पर विदा करने

की पूरी तैयारी कर चुके थे। इसलिए मन में किसी प्रकार का क्लेश नहीं था।

हालाँकि यह भी नहीं कहा जा सकता कि मन में वसंत की बहार पूरी तरह खिल रही थी। बेटे के प्रति जीवन भर का दायित्व, जो लगभग बीस वर्षों तक निभाया गया, अब साल भर से भी कम समय में पूरा होने वाला था।

इसलिए यह सोचकर जहाँ एक ओर संतोष था, वहीं मन में एक स्वाभाविक हलचल भी थी। सुबह उठकर टहलने का विचार और आम की देखभाल का दायित्व, दोनों साथ लिए जीबेन्द्र आम की गाछी की ओर निकल पड़ा। रास्ते के किनारे, अपनी गाछी से पहले उन्होंने देखा कि सुवासिनी श्याम की गाछी में उदास-सी खड़ी है। यह दृश्य देखकर उनका मन भी क्षणभर को मुरझा गया। लेकिन उन्होंने तुरंत ही अपने विचारों को समेटा और सुवासिनी के जीवन की ओर दृष्टि डाली। बेचारी का मन उदास न हो तो क्या हो। आज के समय में एक बेटी की शादी ही जीवन भर की कमाई खर्च कर देने पर संभव होती है, और यहाँ तो तीन-तीन बेटियाँ हैं। उसकी चिंता पूरी तरह स्वाभाविक है। पर रोते चेहरे का भाव तब ही बदलता है जब उसे किसी हँसते चेहरे का साथ मिल जाए। यदि किसी रोते को और रोने वाला संग दे, तो फिर वह और भी हिचकियाँ भर-भरकर रोएगा। अपनी सहज गरिमा बनाए रखते हुए जीबेन्द्र ने सुवासिनी को देखकर पूछा- “बेटी, अब कितने दिन का दाना-पानी प्रेमनगर में बचा है?”

बात कहने से पहले ही सुवासिनी के मन में यह ख्याल कौंध गया कि जितने आम उसके नाम पर तोड़कर रखे गए हैं, काश उतने ही दिन और यहीं रह जाए। पर बोलने से पहले उसने खुद को संभाला और कहा-

“यह तो अपना मायके है। अगर आज माँ-पिता जीवित होते, तो यह गाँव मेरे लिए दूसरी दुनिया-सी होती। लेकिन अब सब कुछ भाई-भाभी के भरोसे है। फिर भी गाँव तो गाँव ही है। आज छुट्टी का अंतिम दिन है, पूरे दिन यहीं रहूँगी। शाम की बस से निकलूंगी।”

जीबेन्द्र बोले- “धीरेन्द्र को भी जाना है ही। अच्छा रहेगा कि सब साथ

चलो। जैसे हँसते-खेलते आम खाने आई थीं, वैसे ही हँसते-खेलते लौट जाओ। समय अनुकूल रहा तो अगले साल फिर आना। अपना मायके है, यहाँ आने के लिए किसी से इजाज़त लेने की क्या ज़रूरत।"

इतने में जगमोही भी वहाँ आ गई। जैसे किसी यज्ञ के समापन में अंतिम कर्म के समय एक उदासी और संकोच का भाव आ जाता है, कुछ वैसा ही भाव उसके चेहरे पर था।

सुबह बिस्तर छोड़ते, सबसे पहला ख्याल यही आया था कि आज वापस लौटना है। लेकिन अभी-अभी उसने जीबेन्द्र की बात पूरी सुनी थी।

उसके मन में विचार उठा, मातृक तो उसका भी है। नाना ने ठीक ही कहा कि उसे किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। माँ का घर तो मातृभूमि की तरह होता है। वहाँ से लौटने या वहाँ लौटकर आने के लिए कोई औपचारिकता नहीं होनी चाहिए।

जीबेन्द्र के पैर छूकर प्रणाम करते हुए जगमोही बोली-

"नाना, आज लौट जाएँगे।"

आशीर्वाद देते हुए जीबेन्द्र बोले-

"मन लगाकर पढ़ना। धीरेन्द्र भी तुम्हारे साथ है, इसलिए दोनों मिल-जुलकर रहना और एक-दूसरे की मदद करना।"

ऊपर के मन से या भीतर के मन से ही, जगमोही ने वास्तव में क्या सुना, यह वही जानती थी; पर जैसे प्यासे को एक ग्लास पानी सात ग्लास पानी जितनी तृप्ति देता है, वैसा ही सुकून उसके हृदय में उतर आया। अचानक उसका मन जैसे खिल उठा। जैसे किसी वृक्ष के सर की टहनी से नव कलश से नव जीवन का रूप-गुण पाा है। जीवनधारा फूटती है, वैसे ही श्रेष्ठजनों के आशीर्वाद से भविष्य की राह में नवजीवन जागता भी है।

पढ़ाई और जीवन की नई दिशा में वह जैसे स्वयं को खिलता हुआ महसूस करने लगी। समाज में फैले दहेज के अंधकार को वह अब तक सुनती और देखती रही थी, पर उसका ध्यान अब तक वहाँ नहीं गया था। अब उससे सोच की कलियाँ धीरे-धीरे खुलने लगीं। वह बोली- "नाना, यदि

आप सबकी दया-दृष्टि बनी रहे, तो हम एक-दूसरे की मदद और प्रेम से प्रेमसागर तक पहुँच जाएँगे और आत्मकल्याण का मार्ग पकड़ सकेंगे।"

जगमोही की बात सुनकर जीबेन्द्र के मन की वह धुंध, जो अब तक सुवासिनी की पीड़ा से बनी हुई थी, छँटने लगी। उनके होंठों पर जैसे मुस्कान की मोती-धार फूट पड़ी। वे बोले-

"हम तो अब जिंदगी के उस पार के घाट पर पहुँच रहे हैं। अब तुम ही इस किनारे के घाट की नई नाविक हो। जैसे चाहो, वैसा पार करोगी। अब सब कुछ तुम्हारे ही हाथ में है।"

एक ओर जीबेन्द्र, जगमोही की बात सुनकर शांत हो गए, तो दूसरी ओर जगमोही भी उनके उत्तर से स्तब्ध रह गई।

दोनों चुप। बीच में खड़ी सुवासिनी कभी जगमोही को देखती, कभी जीबेन्द्र को। इस क्षण की सीमारेखा पर वह हर्ष और विस्मय के बोझ तले खुद को दबा हुआ महसूस कर रही थी।

क्या कहे, किससे कहे- बस दोनों ओर देखकर चुप रह गई।

पटना पहुँचते-पहुँचते सुबह हो गई। गंगा का पुल पार करते ही सबकी आँखें इधर-उधर घूमने लगीं। चेहरों पर यात्रा की थकावट साफ़ दिखाई दे रही थी, लेकिन भीतर कहीं यह अनुभूति भी जाग रही थी कि इस दुनिया में खोए हुए लोग भी दोबारा मिलते हैं, और उन अपनों में फिर से खुद को खोजने की चाह भी पनपती है।

समय धीरे-धीरे बीतता गया। जैसे नई ज़िंदगी की शुरुआत नवयौवन से होती है, वैसे ही उस नव्य आरंभ की आहट सबके मन में सुनाई देने लगी। इस नए दायित्व का एहसास मन पर हल्का दबाव भी बना रहा था।

हर कोई अपनी चाल-ढाल और व्यवहार को सँवारने में लग गया था।

मन में यह विचार उठ रहा था कि अब इस दुनिया में अपने को किस रूप में प्रस्तुत करना है।

आठ महीने कब बीत गए, यह न धीरेन्द्र को पता चला, न जगमोही

को। जैसे कोई व्यक्ति पूरी तरह कर्म में डूब जाए और अपनी सुध-बुध खो दे, वैसे ही ये दोनों भी समय की धारा में बहते हुए अपने-अपने कामों में रम गए।

बीच में परीक्षा हुई। परिणाम अभी आना बाकी था।

धीरेन्द्र गाँव लौट आया, जबकि जगमोही पटना में ही रुकी रही।

अब दोनों के मन में यही प्रश्न उमड़ रहा था कि जब हमने समाजशास्त्र पढ़ा है, तो समाज में रहते हुए एक आदर्श सामाजिक जीवन की नींव रखना ही हमारी पहली जिम्मेदारी होनी चाहिए?

❑❑❑
❑❑
❑

Notes